

विष्णु प्रभाकर



सामयिक प्रकाशन

3543, जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 (भारत)

फोन : (011) 3282733 ✱ 2262499 ✱ 2175472



GIFTED BY
RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION
Block-DE-34 Sector I Salt Lake City.
CALCUTTA - 700064

आखिर क्यों

विष्णु प्रभाकर

ISBN : 81-7138-000-X

मूल्य : सौ रुपये
प्रकाशक : जगदीश भारद्वाज
सामयिक प्रकाशन
3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, नई दिल्ली-110002 (भारत)
संस्करण : 2001
सर्वाधिकार : विष्णु प्रभाकर, नई दिल्ली
कलापक्ष : चेतनदास
शब्द-संयोजक : कल्याणी कम्प्यूटर सर्विसेज
जटवाड़ा, दरियागंज, नई दिल्ली-2
मुद्रक : अजित प्रिंटर्स
मौजपुर, दिल्ली-110053

AAKHIR KYON (Short Stories)
by VISHNU PRABHAKAR Price : Rs 100 00

Published By . SAMAYIK PRAKASHAN
3320-21 Jatwara, Netaji Subhash Marg,
Daryaganj, New Delhi - 110002 (INDIA)
Te (011) 3282733 32707 5 3270716

उन अनाम निर्दोष शहीदों के नाम
जिन्होंने इस समस्या की बलिबेदी पर
प्राण विसर्जित कर दिये
और
उन चिन्तकों के नाम भी
जिन्होंने इस समस्या की गहराई में
जाने की कोशिश की ।

भूमिका

इस संग्रह में जो कहानियाँ संकलित हुई हैं, उनमें से लगभग सभी किसी न किसी रूप में पहले भी प्रकाशित हो चुकी हैं। उनमें से बहुत संग्रह अब अप्राप्य है। इसलिए इस संग्रह की आवश्यकता अनुभव की गई।

इन पंद्रह कहानियों में पाँच कहानियों का संबंध सीधे भारत विभाजन की त्रासदी से है और वे सारी कहानियाँ सत्य पर आधारित हैं। मैं नहीं जानता उनके पात्र अब कहाँ हैं। पर एक दिन उनसे या उनके रिश्तेदारों से मेरी भेंट निश्चय ही हुई थी। मैं स्वयं नहीं जानता कि मैं इस समस्या की गहराई में जा सकता या नहीं। अभी पिछले दिनों हिंदू-मुसलमान के स्थान पर हिंदू और सिखों ने उसी समस्या को बड़े भयानक रूप में हमारे सामने उभार और स्पष्ट रूप से इस ओर संकेत किया कि हिंदू और मुसलमान या हिंदू और सिख होना, इस समस्या के मूल में नहीं है। मूल में है मानव-स्वभाव की विरूपता। मूल रूप में समस्या जो प्रश्न उठाती है वह यही है कि आखिर मनुष्य लड़ता क्यों है? क्या मात्र धर्म के नाम पर या धर्म को बहाना बनाकर बहुरूपी सत्ता को हटाने की चाह के रूप में। इस संग्रह की अंतिम आठ कहानियाँ कहीं न कहीं इस प्रश्न को उभारने के प्रयत्न में लिखी गई हैं। वे भी सब सच्ची कहानियाँ हैं। कुछ अक्षरशः सच्ची हैं और कुछ सत्य घटनाओं के आधार पर लिखी गई हैं। कुछ कहानियों में मैं स्वयं कभी एक पात्र हूँ। जैसे—‘अधूरी कहानी’ में और ‘मुरब्बी’। ‘सफर का साथी’ का प्रत्यक्ष दृष्टा भी हूँ मैं। उनका संबंध किन्हीं दलों से नहीं है, बल्कि युग-युग से चली आई उन कथाओं से है जिन्होंने आदमी को आदमी के पास लाने की कोशिश के बजाए उसे निरंतर दूर करने की कोशिश की। गले लगाकर भी गला काटने की चाह उसमें बराबर बनी रही।

‘आखिर क्यों’ इस कहानी में शकर इसी बात को लेकर परेशान है और इसीलिए वह उसको मारने आने वाले हत्यारे को अपने व्यवहार से सोचने को विवश कर देता है। निश्चय ही कुछ मित्र हृदय परिवर्तन की बात को मेरी कमजोरी मानेंगे। उस दोष को स्वीकार करते हुए मैं इतना ही कहूँगा कि न सही वह एकमात्र रास्ता, पर जो भी रास्ता है वह उसी के आसपास से होकर जाता है।

‘अधूरी कहानी’ का वह मासूम अहमद हिंदू-मुसलमान के बीच के फासले को नहीं देख पाता। उसे तो बस अपने दोस्त की हमदर्दी पर नाज है। ‘मुरब्बी’ कहानी में भी वही दोस्ती दो निर्मल हृदय बूढ़ों के बीच फलती-फूलती है। नितांत एक बालक के रूप में मैंने उन दृश्यों को देखा है, और तभी से मेरे मन में यह प्रश्न बार-बार उभरा है, ‘आखिर क्यों हम अपनी दुर्बलताओं को मत और मजहब के पर्दे में छिपा लेते हैं।’

‘मेरा बेटा’ कहानी में यही प्रश्न तो उभर कर आता है। मजहब बदल जाने के

बाद क्या रिश्ते भी बदल जाते हैं? कितनी कच्ची नींव पर खड़े हैं वे रिश्ते। 'इतनी सी बात' कहानी की घटना बहुत पुरानी नहीं है। लेकिन वह इस बात का प्रमाण अवश्य है कि स्थापित म्बार्थों की गुजल में निकलने का रास्ता है। असलम जावेद का यदि अपना मजहब याद आ जाता तो विनीता की सहायता कैसे कर पाता। उसे तो याद आया बस इंसानी रिश्ता ही। इसी इंसानी रिश्ते की खोज करती हैं ये कहानियाँ।

'सफर के साथी' इसी इंसानी रिश्ते की बुनियाद पर खड़ी हुई है और मैं साक्षी हूँ इस कहानी की घटना का। तब मेरे मन में कितनी खुशी उमड़ी थी, मैं कह नहीं सकती और मुझे विश्वास हो गया था कि इंसानी रिश्ते सबसे ऊपर हैं। वही खून को बादलों के निर्मल और प्राणदायी पानी में बदल सकते हैं। 'आज होली है' यह कहानी भी यही प्रमाणित करती है कि इंसानी रिश्ते सब समस्याओं से ऊपर हैं। काश हम इस सत्य को पहचान सके तो 'ये बंधन' कहानी की समस्याएँ हमारे सामने आएंगी ही नहीं।

अपनी कहानियों के बारे में मैंने शायद ही कभी कुछ कहा हो। यहाँ भी मैंने उनकी पृष्ठभूमि ही बताई है। मैंने हमेशा माना है कि मत-मातातर और राजनीति इनसे बचकर अगर हम सोचेंगे, तो शायद रास्ता नजर आएगा। वैसे रास्ता तो अब भी नजर आता है, लेकिन उस पर चलने का साहस हम नहीं बटोर पा रहे।

मैं जानता हूँ छूछी भावुकता और छूछे आदर्शवाद का दोष तो मेरे नाम के साथ चम्पा हो चुका है। मैंने अपना बचाव करने के लिए ये शब्द नहीं लिखे। मैं जानता हूँ मुझे कहानी लिखना भी नहीं आता, लेकिन फिर भी मैं लिखता रहता हूँ। मित्रों की सलाह मानकर मुझे अब लिखना बंद कर देना चाहिए। फिर भी लिखता हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि कला और गहराई इन दोनों शब्दों का मेरी कहानियों से कोई संबंध नहीं है, फिर भी मुझ से चुप नहीं रहा जाता। यदि यह अपराध है तो मैं इसे स्वीकार करता हूँ। मैंने कभी कोई दावा नहीं किया, अब भी नहीं करूँगा, पर लिखता अंतिम क्षण तक रहूँगा।

समीक्षक और आलोचक पूर्ण स्वतंत्र हैं इनका मूल्यांकन करने के लिए। मैं बड़ी विनम्रता से कहूँगा कि यह सब कुछ मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट करने की भावना से लिखा है, किसी के प्रति आक्रोश के कारण नहीं। जो मेरे बारे में लिखते हैं, चाहें कुछ भी लिखते हों, वे मेरे मित्र ही हैं। अगर मित्र न होते तो डा. जानसन की इस उक्ति 'यदि तुम किसी लेखक को मारना चाहते हो तो उनकी उपेक्षा करो।' (If you want to kill a writer, ignore him) पर अमल करते, मेरे मित्रों ने मेरी उपेक्षा नहीं की। इसीलिए नहीं कि कि वे मुझे प्यार करते हैं।

मुझे यह सब नहीं लिखना चाहिए था, पर लिख गया, इसके लिए क्षमा नहीं मागूँगा।

शेष पाठक जाने।

कथा-क्रम

एक और कुंती	9
मृत्युंजय	24
मैं जिंदा रहूंगा	32
मेरा वतन	43
स्यापा मुक्का	51
अगम-अथाह	56
सत्य को जीने की राह	64
आखिर क्यों	69
अधूरी कहानी	77
इतनी-सी बात	83
मुरब्बी	91
सफर के साथी	98
आज होली है	104
ये बंधन	112
मेरा बेटा	121

एक और कुंती

प्यारे दोस्त।

क्या आप कल्पना कर सकते हैं कि यह पत्र लिखने का निर्णय करने में मुझे पूरा एक वर्ष लगा। और अनायास यह घटना न घटी होती तो शायद कभी न लिख पाती। मैं नहीं जानती कि आपको क्या कहकर संबोधित करूं। आज निश्चय करके बेठी थी कि पत्र लिखकर उठूंगी। इसलिए सहसा जो संबोधन सूझा वही लिख रही हू। उसके पीछे जानबूझकर दिया हुआ कोई अर्थ नहीं है। चिट्ठी लिखने का एक और भी कारण हो सकता है। उसमें मन उतर आता है। मैं मन खोलना चाहती थी किसी के सामने।

आपको याद होगा कि लगभग दो वर्ष पहले आप इस निकेतन में आए थे। तब मैं नई-नई आई थी और नहीं जानती थी कि मैं जीती हूँ या मर चुकी हू। जीना-मरना केवल सांस के आधार पर तो नहीं होता।

लेकिन मैं इस मीमांसा में नहीं उलझना चाहती। आदमी गुत्थी सुलझाते-सुलझाते स्वयं उसमें उलझ जाता है। इसी उलझन से मुक्ति पाने के लिए तो मैंने साल-भर तक अपने से संघर्ष किया है। नर-नारी के संबंधों को लेकर मासिक 'प्रज्ञा' में मैंने आपका लेख पढ़ा था। उसके तुरंत बाद मैंने चाहा कि आपको पत्र लिखूं। वह लेख पढ़कर मैं कैसी-कैसी न हो आई थी। उसी 'होने' के परिणामस्वरूप यह पत्र है। बहुत-से लोग आते हैं यहां। बहुत-सी बातें कहते हैं। विरह-मिलन के दृश्य भी बहुत देखे हैं मैंने। व्यापार भी होता है यहां। लेकिन आपके साथ ऐसी कोई बात नहीं हुई। फिर भी मुझे आपकी बराबर याद आती रही। क्यों? क्यों महसूस किया आपके साथ इतना अपनापन।

आपको बहुत अच्छी तरह याद होगा कि तब यद्यपि बादला से मुक्त धुला-धुला आकाश बाहर आने का आमंत्रण दे रहा था, लेकिन मैं एक कोने में पांच बच्चों से घिरी हुई, एक जिंदा लाश की तरह पड़ी थी। मुझे दिखाकर सचालिका ने आपसे कुछ कहा था। सुन कम पाई थी, समझी बहुत कुछ थी। जिस समय आप मेरे पास से होकर चले गए और ठीक उस खिड़की के पीछे आकर खड़े हो गए जहां मैं लेटी हुई थी, तब मुझे मालूम हुआ कि आप कौन हैं। मुझे देखकर आपके चेहर पर कोई भाव नहीं आया था या आपने आने नहीं दिया था, मैं नहीं जानती। लेकिन जब आप पीछे खड़े थे तब मैंने आपकी काफी बातें सुनी थी। सचालिका ने आपसे कहा था, "देखिए

बहुत लोंग आंत हैं यहा और बहुत कुछ लिखते हैं यहा के बारे में लेकिन मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ, इसलिए करती हूँ कि आप लेखक हैं और लेखक संवेदनशील होता है, आप इस नारी के बारे में कुछ न लिखिए ।”

आपने कहा था—यद्यपि उस कहने के बीच में कई क्षण बीत गए थे और मैं जानती हूँ, उन क्षणा में आपके हृदय में समुद्र-मथन हुआ था—आपने दीर्घ निःश्वास लेकर एक ही शब्द कहा था—‘अच्छा’। लेकिन इस एक शब्द के पीछे कितनी वेदना कितनी अनुभूति और कितनी विवशता थी। आपके चेहरे पर व्यक्त वही त्रासद विवशता धीरे-धीरे मेरे समूचे शरीर में फैल गई थी। मैं तड़पकर उठ खड़ी हुई थी। मैंने खिड़की की सलाखों को पकड़कर उस ओर झाँका था। तब आप धीरे-धीरे संचालिका के साथ बाहर जा रहे थे। मैं कई क्षणों तक ठंडी सलाखों पर जलते आसुओं से भरा अपना चेहरा टिकाए रही। द्वार के पास पहुँचकर आप मुड़े। मुझे देखने के लिए नहीं बल्कि संचालिका को नमस्कार करने के लिए। लेकिन आपने मुझे न देखा हो, मैंने आपको देख लिया था और उसी क्षण मैं समझ गई थी कि आप भले ही मेरी कहानी को कागज पर न उतार सकें पर अपने अंतर में उसे निरंतर झेलते रहेंगे

संचालिका ने आपको मेरी कहानी बताई होगी। लेकिन क्या सचमुच बता सकी होगी? कोई नहीं शब्द दे सकता मेरी व्यथा-कथा को। मैं भी नहीं। सहते-सहते अनुभव करने की मेरी शक्ति समाप्त हो गई है। पर क्या आप विश्वास करेंगे कि आपका वह लेख पढ़कर मैं स्वयं पहली बार अपनी कहानी को समझ सकी। जानती हूँ, आपने वह लेख मेरे लिए नहीं लिखा था। आपने मात्र अपनी सात समंदर पार के किसी देश की यात्रा के संस्मरण लिखे थे। सात समंदर पार के बारे में मैंने काफी कहानियाँ अपनी नानी से सुनी थीं—एक साहसी राजकुमार और एक सुंदर राजकुमारी की कहानियाँ। लेकिन आपने जो लेख लिखा था उसमें न राजकुमार की चर्चा थी, न राजकुमारी की। फिर भी उसमें अद्भुत साहस और अनोखे सौंदर्य की कथा गर्भित थी। नर-नारी के संबंधों की कथा..

मेरी कहानी उन्हीं संबंधों की व्यथा-कथा है। मैं एक तथाकथित सुसंस्कृत परिवार की बेटी और एक उतने ही सुसंस्कृत तथा संपन्न घराने की बहू थी। स्वयं सुंदर मोहक और आकर्षक। उस दिन भी, बेशक वह ठंडा था, लेकिन एक अनोखा आकर्षण पाया होगा आपने मेरी उदास-उनीदी आँखों में। इन्हीं आँखों के रहते तो मैं बार-बार छली गई। जिस समय मैं उन्नीस वर्ष की थी उस समय कैम्बी लगती थी, इसकी कल्पना आप नहीं कर पाएंगे। सौंदर्य को शब्दों में बाँधना एक बात है, उसे सचमुच अनुभव करना दूसरी बात है। मैं आकंठ ऐश्वर्य और विलास में डूबी अपने पति के साथ उस अनूठे जीवन को भोग रही थी और समय एक सुनहरे सपने की तरह बीत रहा था।

उन्हीं दिनों सहसा मेरे प्रांत के भाग्याकाश पर विपत्ति के बादल फट पड़े। वे कैसे

दश का दुर्भाग्य बन गए, यह आपको बताने की आवश्यकता नहीं है। उस महानाश में कौन कहा गया, किसके साथ क्या बीती, इतिहासकार इसको खतियाकर कभी नहीं देख पाएंगे। देखना चाहिए भी नहीं। अपने कलक को अमर कर देना क्या अच्छी बात है? काल ने बड़ी नृशंसता के साथ हमें इस बात का अहसास करा दिया कि उपयुक्त अवसर आने पर एक क्षण में ही प्रभु की सर्वोत्तम कृति मानव, राक्षस में रूपांतरित हो सकती है।

मैं फिर उलझने लगी। अंदर जो घटाटोप है, लाख प्रयत्न करने पर भी वह निरंतर विस्तृत होती दरारों में से होकर चारों ओर बिखर जाता है। अचानक एक दिन भयंकर आक्रमण हुआ हमारे घर पर। कैसे शब्द दू उस वीभत्स दृश्य को। घर के अधिकांश सदस्य शरणार्थी शिविर में जा चुके थे। बस, मैं और मेरे पति रह गए थे वहां, अंत में जाने के लिए। उन्होंने साहस के साथ मुकाबला किया पर . पर उन दरिदों ने उन्हें मार डाला और और फिर उनकी लाश पर बलात्कार किया . मेरे साथ

एक सास में पागल की तरह बोल जाता है आदमी, कैसे ही एक मास में मैं इसे लिख गई। दूसरा सास लेती तो लिख न पाती। जब होश आया तो मैं एक छोटे से, कच्चे, गंदे मकान में लेटी हुई थी—नितांत अकेली, असहाय, अपग। प्राणहीन हो गए थे मेरे सारे अंग। मैं उन्हें हिला नहीं सकती थी। मैंने सोचा, शायद मैं मर गई हूँ और अपने पापों का दंड भोगने के लिए मुझे नरक में ढकेल दिया गया है। कोई रात को स्वप्न में नदन कानन के सपने देखे और सबेरे अपने को नरक में पाए, कैसा आघात लगेगा उसे। लेकिन वह नरक भी नहीं था क्योंकि धीरे-धीरे प्रकाश मेरे चारों ओर फैलता जा रहा था, मेरी चेतना लौट रही थी। मैं उठने का प्रयत्न करूँ कि तभी किवाड़ खोलकर एक व्यक्ति मेरे सामने आ खड़ा हुआ। कई क्षण मुझे देखता रहा अपलक। मैं भी देख रही थी उसे और पलक झपक रही थी बार-बार। वह बोला, युगों बाद कहीं दूर से, “कैसी तबियत है?”

मैं एकाएक चीख उठी, “मैं कहा हूँ? यह कौन-सी जगह है? तुम कौन हो?”

वह एक स्वस्थ व्यक्ति था। उसके चेहरे पर क्रूरता नहीं थी। वेदना के ऊपर आरोपित कठोरता थी। उसने धीरे-धीरे बताया, “मैं नहीं जानता तुम कौन हो, तुम्हारे घर वाले कहां हैं? गुंडे कुछ औरतों को भगाकर लिए जा रहे थे। लेकिन फौज ने उन्हें दूढ़ लिया। उस मुठभेड़ में बहुत-सी लड़कियां इधर-उधर भाग गईं। जब सब लोग चले गए तो मैंने तुम्हें एक खेत में बेहोश पड़े पाया। मैं कौन हूँ, यह जानने की कोशिश मत करो। अभी इतना समझ लो, मेरा नाम नूर है। तुम बताओगी तो मैं तुम्हारे घर वालों को खोजने की कोशिश करूंगा।”

न जाने कैसी संवेदना थी उसके इन सीधे-सच्चे शब्दों में। मैं रो पड़ी और सुबकियों के बीच उसे अपनी दास्तान सुनाने लगी। कई क्षण वह कुछ नहीं बोला, जैसे कुछ अकथनीय कहने के लिए साहस बटोर रहा हो। कई क्षण बाद धीरे-धीरे उसने

कहा, "मैं जानता हूँ, उस शहर में अब तुम्हारे घर-परिवार का कोई आदमी नहीं बचा है। जाति का भी नहीं। कुछ शरणार्थी शिविरों में चले गए हिंदुस्तान जाने के लिए, कुछ नफरत और हिंसा के सैलाब में बह गए।"

मैं नडप उठी। मैंने चीखकर कहा था, "क्या मैं नहीं जा सकती शिविर में? क्या आप मुझे यहाँ से निकल जाने में मदद नहीं कर सकते? क्या आप कृपा कर, "

वह दीवार के सहारे खड़ा था। थोड़ा पास आया मेरे। बोला, पहले की तरह बहुत धीमे-धीमे, "अभी कुछ नहीं हो सकता। चारों ओर दहकता हुआ लावा फैलता जा रहा है। किसी अंधेरी रात में तुम्हें अपने घर ले जाऊंगा। तुम्हारे लिए नए कपड़े लाया हूँ और तुम अब आराम हो।"

"क्या?"

"हाँ, अब तुम आराम हो, समझती हो?"

प्यारे दोस्त। वे कपड़े पहनते न पहनते मैं कितना रोई थी। फिर भी हुआ वही जो नूर ने चाहा था। आने वाली पहली अमावस की रात में मैं माना हमेशा के लिए नकाव पहनकर उसके घर चली गई। मर न सकी। मर जाना चाहिये था न, पर अपने स अजनबी होकर रहना मरने से कहीं त्रासदा होता है। मैं जानती थी कि नूर ने मुझे इसीलिए बचाना चाहा था कि मैं नारी थी और सुंदर भी, नर-नारी का यही सवध शाश्वत है न।

और एक बात बताऊँ, नूर अविवाहित और हिंदू था। कई दिन बाद पता लगा था मुझे। वह अपनी जमीन-जायदाद बचाने के लिए मुसलमान बना था।

बहुत लंबी कहानी है मेरी। टुकड़ों-टुकड़ों में कह पाऊँगी। आप चाहे तो उपन्यास लिख सकते हैं। पर मेरा अनुरोध है, न लिखिए। कोई कैसे शब्द दे सकता है उस भावना को जो मेरे मन में तब उठी थी जब मैंने अनुभव किया कि मैं माँ बनने वाली हूँ। दर्द और नफरत का सैलाब मेरे अस्तित्व को लील गया था तब। मैंने पेट पर मुक्के मार-मारकर गर्भ गिराने की नाकाम कांशिश की थी पर नूर सजग था। मैं अपने मसूबे में कामयाब नहीं हो सकी। सच तो यह है कि मेरे अपने अंदर कोई था जो मेरे मसूबों को नाकाम बनाने पर तुला हुआ था। अपने ही 'मैं' के दोहरापन को हम कब समझ पाते हैं

मेरा एक और बेटा था जिसे मैं पीछे छोड़ गई थी। उसकी याद करके अक्सर मैं रोती थी। पति तो अब आने वाले नहीं थे पर क्या मैं अपने बेटे का भी नहीं देख पाऊँगी। लेकिन मैं तो नए बच्चे की बात बता रही थी। कहाँ से आया यह, कैसे आया? नूर तो उस सारे समय मेरे पास तक नहीं आया है प्रभु। तुम हो क्या? सचमुच हो

कितना पुकारा था मैंने उस निर्मम को पर वह नहीं पसीजा और समय धीरे-धीरे फिसलता रहा, और मुझे लगता रहा, जैसे वह ठहर गया है। मेरे चारों ओर एक सुलगता अग्निक्वाड है जिसमें से उठती आदमी के रक्तमांस की चिड़ायध मेरे नासा-ग्रन्थों में

घुमती जा रही है। मैं सोते-सोते चीख उठती। मैं बाहर भागने का पागल हो उठती

लेकिन इस विभीषिका के बीच में नूर था कि अविग चट्टान की तरह खड़ा रहा। वह मेरे पास नहीं आता था, पर दूर भी नहीं जाता था। उसने मेरे आसू पोछने की भरसक कोशिश की। मेरे परिवार का पता लगाने का प्रयत्न किया लेकिन सफल नहीं हो सका। तब एक दिन वह मेरे पास आकर बैठ गया। बोला, “धीरे-धीरे आग बुझ रही है। तुम लोगों को निकालने के लिए सेना आती रहती है। चाहो तो तुम भाग जा सकती हो।”

आश्चर्य। मैं तब पुरइन के पत्ते की तरह काप उठी थी। और मैंने चीखकर कहा था “नहीं-नहीं, मैं नहीं जा सकती। मैं नहीं जाऊंगी।”

तब पहली बार उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर थपथपाया। उस स्पर्श के साथ मैंने कैसे भागी-भीगी सवेदना मेरी रग-रग में प्रवाहित होने लगी। मुझे अच्छा लगने लगा। उस दिन वह चुपचाप चला गया। लेकिन तीसरे दिन, पांचवे दिन, सातवे दिन उसने फिर वही कहा। मैं निरंतर लड़ती रही अपने-आपसे। पंद्रहवें दिन आकर वह बड़े प्यार से बोला, “चलो, वे लोग बहुत पास हैं। मैं तुम्हें छोड़ आता हूँ। तुम न जाना चाहो तो मैं उन्हें यही बुला लाऊंगा।”

मैं अब पूरी तरह शांत थी। पूरी दृढ़ता से मैंने जवाब दिया, “मैं नहीं जाऊंगी। तुम सब कुछ जानते हो। फिर भी मुझे जाने को कहते हो क्यों ?”

तब तक वह मुझे अपनी कहानी सुना चुका था।

कई क्षण मेरी ओर देखता रहा। उसके बाद उसने कभी मुझसे जाने के लिए नहीं कहा। अब मुझे जीवन-भर यही रहना था।

मेरे दोस्त! घोर अवसाद में डूबे रहने के बावजूद उस दिन मेरे उदास चेहरे पर पहली बार मुसकराहट उभरी थी। इसी के साथ शुरू हुआ, मेरी कहानी का दूसरा अध्याय। एक दिन मैं मां बनी। अत्याचार की राह आए उम्र नए शिशु को देखती तो मेरी सुबकियां फूट पड़ती। लेकिन उस मासूम की दृष्टि में मैंने जाने क्या था कि एक निराली पीर कसक उठती मेरे अंतर में और मुझे उन्माद से भर देती। नारी के कारावास की कहानी यही से आरंभ होती है।

मेरे दोस्त! क्या आप विश्वास करेंगे कि छह माह बीतते न बीतते मैं फिर मा बनने को हुई। मैं अब नूर की पत्नी थी। उसने मेरे बच्चे को अपना लिया था और मैंने अपने अंतर से पिछले जीवन को धो-पोछ डाला था। धो-पोछ डालने की यह प्रक्रिया कितनी मर्मतिक थी। उसकी अब क्या चर्चा करूँ। पति चले गए थे। उनका परिवार मुझे स्वीकार नहीं कर सकता था। बस, बेटे की याद आती थी। कैसी विडंबना है जो प्यार की राह आया वह दूर हो गया और जो..

अब वह कहानी नहीं। लेकिन मेरे कहने मात्र से तो कहानी खत्म नहीं हो सकती। यहां के लोग जानते थे कि नूर जमीन-जायदाद को बचाने के लिए मुसलमान

बना ह। धीरे धीरे व उस पर दबाव डालने लग। आर जस ही उमन प्रतिराध करने की कोशिश की, उन्होंने उसे मार डाला। क्षत-विक्षत तन-मन लिए मैं फिर दोराहे पर खड़ी थी—पाषाणवत्। नारी भी तो जमीन ही होती है न और जमीन के पास उसकी अपनी कोई आवाज नहीं होती। अन्नपूर्णा होकर भी वह सपत्ति होती है किसी नर की

सातवें दिन एक और नृग की पदचाप बिलकुल मेरे पास आकर रुकी। मैंने आखे खोल दी। वह मेरे पास बैठ गया। बोला, “फारुखी हू। यहा कालेज में पढाता हू। मुझे बहुत दुःख है कि नूर बेगुनाह मारा गया। वह मेरा दोस्त था। उसने मुझे यह मकान देने का वायदा किया था। नहीं.. डरो नहीं, मैं तुम्हें जाने के लिए नहीं कहूंगा। तुम यही रह सकती हो।”

मैं पूरी तरह मोहताज बनी आखे फाड़े-फाड़े छत की ओर देखती रही। मैं जानती थी, मैं खूबसूरत हू और जवान हू। इन दो-ढाई वर्षों में मैंने क्या कुछ नहीं भुगता। लेकिन यौवन का ज्वार तो जैसे मेरे शरीर में अड़ी मारकर बैठ गया था। मौत बार-बार पास आकर लौट जाती थी। इस बार भी लौट गई। मैं एक जिंदा लाश की तरह जीती रही।

मेरे दोस्त। आपने नर-नारी की समानता के लिए एक-दूसरे के आकर्षण से मुक्ति की बात कही है, पर क्या आप विश्वास करेंगे कि प्रोफेसर फारुखी के इसी आकर्षण ने मुझे एक बार फिर जीवनदान दिया। एक बार फिर मेरे अगो में वसत की बयार बहने लगी। हर औरत के अंतर में बगवद एक मर्द रहता है। फारुखी सचमुच मर्द था। और शायद भी। उसके अनेक अशआर आज भी मेरे अंतर को अलोकित करते रहते हैं। उसने मेरे साथ निहायत शरीफाना बरताव किया। उसने मेरे दोनों बच्चों को किसी तरह का अभाव नहीं खटकने दिया। मोहब्बत और इनसानियत की हवा पाकर वे जैसे पनप उठे। और पनप उठा मेरा अतर्मन। दिलों का रिश्ता शरीर के रिश्ते से जुड़ गया। उसने मुझमें बकायदा निकाह किया। मेरा नाम सुरैया रखा। चौथा पुरुष था वह मेरे जीवन में। आपने लिखा है, पश्चिम की नारी सहज भाव से कह सकती है, ‘मेरा चौथा पति।’ प्राचीन भारत में भी शायद कुंती ने कहा था, ‘इन्द्र चौथा पुरुष है।’ और द्रौपदी तो एक समय पर पांच पतियों की प्रागवल्लभा थी। वे सब हमारी प्रातःस्मरणीय पूज्य हैं। लेकिन क्या मैं कभी यह कह सकूंगी, ‘फारुखी मेरा चौथा पुरुष था?’ मैं चौथी बार मा बनने जा रही हूँ।

समय के प्रवाह में नर-नारी के संबंध कहां से कहा बह गए!

मैं फिर उलझने लगी तर्कजाल में लेकिन एक बात मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकती हू, यदि मैं अपने पहले पुरुष के साथ रहती होती तो मेरे चौथी बार मा बनने पर आनंद और उल्लास से वातावरण महक उठता। अजस्र आशीर्वादों की वर्षा होती मुझ पर। मातृत्व के गौरव से मेरा भाल चमक उठता। मां मैं अब भी बनती थी, पर गौरव करने लायक कहीं कुछ नहीं होता था। होती थी एक विवशताजन्य उदासीनता।

लेकिन मुझे यह स्वीकार करने में आज तक भी लज्जा नहीं है कि उस पठान का छोड़कर जिसका मैं नाम नहीं जानती, नूर और फारुखी, दोनों ने मुझको प्यार दिया। जब-तब छा जाने वाले गहरे अवसाद के बावजूद मैंने उस प्यार को जिया। मन की उन बातों को छिपाने का आज कोई कारण नहीं है। किसके लिए छिपाऊंगी इस दुचित्तेपन को? मनुष्य केवल आंतरिक शक्ति के सहारे नहीं जीता, बल्कि उसे उस शक्ति की भी आवश्यकता होती है जो उसे दूसरों की हमदर्दी में से मिलती है।

लेकिन यह आनंद भी स्थायी नहीं हो सका। अचानक एक दिन फारुखी घबगया हुआ आया। बोला, “सुरैया। दुश्मन कामयाब हो गए। मुझे यहाँ से दूर एक कालेज में बदल दिया गया है। मुझे आज ही जाना होगा।”

हठात् जैसे मैं खौलते कढाह में गिर पड़ी हूँ। चीख उठी, “नहीं, मैं अकेली नहीं रह सकती। मैं तुम्हारे साथ चलूंगी!”

पर मैं कैसे जा सकती थी? मैं अभी-अभी चौथी बार प्रोफेसर फारुखी के बेटे की माँ बनी थी। उस रात हम सो नहीं सके। तमाम समय उसे बीतते देखते रहे और वह सात्वना देता रहा। सवेरा होते न होते वह चला गया। जाते समय उसने सच बात बताई, “मैं आऊंगा। मैं जानता हूँ, यह सब जालसाजी है। मुझसे यह मकान छीन लिया गया है। मुझ पर इलजाम लगाया गया है कि मैंने नूर को मारकर उसकी बीवी को नाजायज तौर पर रखा हुआ है। और कि तुम हिंदुस्तान में भगाई एक एक हिंदू औरत हो। मैं परदेशी हूँ। सब हाकिम उनकी तरफ हैं। लेकिन मैं आऊंगा। मैंने तुम्हारे लिए सब इतजाम कर दिए हैं। आया आती रहेगी तब तक।”

उसने अंतिम बार मेरा चुबन लिया और देर तक उंगलियों को पकड़े मेरी आँखों में झाँकता रहा। उस दृष्टि से बहते प्यार, दर्द और क्षमा की एक गुनगुनी धारा ने मेरे बाध को तोड़ दिया। उसके जाते ही मैं सिसकने लगी।

तीसरे दिन जब मैं अपेक्षाकृत शांत थी, मैंने मुजफ्फर को अपने सामने पाया। उसकी आँखों में शरारत थी और होंठों पर भी मंद-मंद मुसकान। वह मुझसे इजाजत लेकर अंदर आया। उसने धीरे-धीरे कहा, “मुझे बहुत अफसोस है, प्रोफेसर साहब तुम्हें छोड़कर चले गए। उम्मीद नहीं कि वह अब लौटेंगे। क्या तुम हिंदुस्तान जाना चाहोगी?”

मैं एक बार फिर जिदा लाश में बदल चुकी थी। फिर भी मैं झूठ नहीं बोल सकी। कई क्षण देखती रही उस पुष्ट कंधे वाले पंजाबी युवक को। फिर बोली “मैं कहीं नहीं जाना चाहती। बस, मरना चाहती हूँ।”

वह मुसकराया, “ठीक है, मैं दो दिन बाद तुम्हें अपने गाँव ले जाऊंगा। वहाँ तुम्हें यह जाहिर करना होगा कि तुम हिंदुस्तान के लोगों की सताई हुई एक मुस्लिम खातून हो।”

मुझे ऐसा लग रहा था जैसे कहीं बहुत दूर से आकर ये शब्द मेरे मस्तिष्क में

केचुओं की तरह रेंग रहे हो। मुनता हूँ, केचुएँ बहुत बढ़िया किस्म की खाद बनाते हैं। मैं तो नहीं शायद मैं भूली, मैं शायद तब खाद बनकर ही रह गई थी—बढ़िया किस्म का खाद, जिसमें बदबू नहीं उठती। काश, मुझमें से बदबू उठ सकती।

प्यारे दोस्त! एक दिन मचमुच मैंने अपने-आपको एक छोटे-से खुशहाल देहात में पाया। वहाँ स्त्री-पुरुष सब मिलकर खेती करते थे और फिर हीर-राजा के गीत गाते थे। कितनी मस्ती थी उस आलम में। वहाँ की सुहानी धूप तक हमसे लिपट-लिपट जाती थी। बचपन में माँ-बाप के साथ ऐसे ही देहातों में रहते हुए मैंने न जाने कितने सतरंगे सपने देखे थे, इसलिए बहुत देर तक मैं उस वातावरण से अछूती न रह सकी। बयार की मादकता ने मंरे उभारों को फिर से आकर्षक बना दिया। मैंने निश्चय किया था कि अब मैं किसी को अपने पास नहीं आने दूँगी। लेकिन पास आने या न आने देने वाला कोई 'मैं' थोड़े ही होता है। वह तो एक गंध होती है। नर-नारी के संबंधों की गंध जो किसी एक के अंगों से फूटती है और किसी दूसरे के अंगों को खींच लेती है।

फारुखी इस स्वाभाविक आकर्षण को न जाने क्या-क्या नाम दिया करता था, पर मुजफ्फर था कि भाषा से नितांत अपरिचित था। उसकी आँखों की शरारत, उसके होठों की मुसकान और बाँहों की जकड़न इतनी मासल थी कि लोथ में भी चाह पैदा कर देती थी।

इसका जो परिणाम हो सकता था वही हुआ—नारी फिर माँ बनी। इस बार दो जुड़वा बच्चों की माँ। नियति का व्यग्य कितना क्रूर होता है। और मेरे पाँच बेटे थे अब। कुत्ती के भी पाँच बेटे माने गए हैं। छठे को, जो उसका पहला था, उसने स्वयं त्याग दिया था। मेरा भी छठा बेटा है, मेरे प्रेम का प्रतीक पर वही मुझसे छीन लिया गया।

आपको नाम तो बताएँ नहीं उनके। आवश्यक नहीं है पर बिना नाम यहाँ कुछ नहीं चलता तो, मान लीजिए, तब उनके नाम थे—अनवर, अशरफ, असगर, अहमद और अली।

आप पूछेंगे, 'छठे बेटे का नाम क्यों नहीं बताया।' जब वह मेरा रहा ही नहीं तब नाम लेकर क्या करूँगी? फिर भी उसका नाम है—आशिम।

तो मेरे दोस्त! मेरी जिंदगी का चक्र इस तरह तेजी से घूम रहा था। उन गाँव वालों की दृष्टि में मैं पाँच बेटों की माँ थी, बेहद खुशकिस्मत और सुखी भी। मुजफ्फर को मेरे निगोड़े रूप का जादू पागल बनाए हुए था। लेकिन यह कोई नहीं जानता था कि इस सुख और सौंदर्य को भोगने वाली मात्र एक जीवित लाश, संस्कार और सभ्यता के आवरण से मुक्त एक कठपुतली है, जो न जाने कौन-सी नियति के इशारे पर यह सब कुछ करने को विवश थी।

इसके पीछे नर-नारी के शाश्वत संबंध थे या वे खतरनाक परिस्थितियाँ थी जिनमें मैं अपने बावजूद उलझती जा रही थी। और स्वामित्व जताने वाले हर पुरुष को मैं प्यार करने का नाटक करती थी। लेकिन नाटक करने की भी एक सीमा होती है। मैं जैसे

टूट गई और मैंने तय कर लिया कि इस उर्वर भूमि पर अपना जीवन गुजार दूंगी। मैं मुजफ्फर की बीवी हूँ, उसी की रहूंगी। पांडु की तरह वह मेरे पांच बच्चों का बाप कहलाएगा। और फिर मैं एक दिन बूढ़ी होकर अपने किसान बेटों के हाथों यहां की जमीन में दफना दी जाऊंगी। न सही मंत्र-पाठ, कुरान शरीफ की आयते मेरी मिट्टी को मिट्टी के सुपुर्द कर देगी।

लेकिन कुरुक्षेत्र का युद्ध अभी पूरा नहीं हुआ था। उस दिन मुजफ्फर घर लौटा तो बेहद परेशान था। उसने कहा, “तुम यहां नहीं ठहर सकोगी। तुम्हें और दूर पहाड़ों के उस पार जाना होगा। तुम्हारे देश वाले तुम जैसी औरतों को ढूंढते फिर रहे हैं और उन्हें शक है कि एक औरत इस गांव में भी है।”

कितनी बार हुआ था यह। मैं स्तब्ध तो न हो सकी, पथराई आखों से देखती रह गई उसे, बस। उसने मुझे बांहों में समेट लिया। बोला, “तुम परेशान मत होओ। सब इंतजाम कर दिया है मैंने। मेरा दोस्त है वहां।”

“तुम नहीं चलोगे?”

“अभी तो नहीं... पर आऊंगा, जल्दी ही आऊंगा।”

हर बार नियति ने मुझसे छल किया। हर बार मुझे लगा कि मैंने स्वयं ही स्वयं की हत्या की है। हर बार मैं अपने से पूछती, ‘यह तू ही है क्या?’

उस रात चुपचाप, घुप्प अंधेरे में, बिना किसी-से मिले और पांच बच्चों के साथ मैं एक अनजान प्रदेश की ओर रवाना हुई। अहमद और अली तब एक-एक वर्ष के थे, असगर, अशरफ और अनवर क्रमशः दो तीन और चार वर्ष के हो रहे थे। कई दिन की यात्रा के बाद हम एक छोटे-से पहाड़ी गांव में पहुंचे। और आप विश्वास नहीं करेंगे, पूरे तीन साल तक यहा से वहां, वहां से कहां-कहां मैं भटकती रही। तीन-चार महीने से अधिक कभी एक जगह न रह सकी। साल-भर मुजफ्फर से संबंध बना रहा। उसके बाद वह भी नहीं आया। यह सब यो-ही हुआ या जानबूझकर पैदा किए किसी भ्रम के कारण। मैं बेसहारा, बेपनाह, भीख मागने को विवश हो गई। आप पूछेंगे कि क्या मेरे रूप ने अब और किसी को आकर्षित नहीं किया? किया, लेकिन अब मुझमें न जाने कैसी अंध-चेतना जाग उठी थी। न समझ में आने वाला एक विद्रोह अवसर आने से पूर्व ही मुझे वहां से निकल भागने को विवश कर देता। अपने को बचाने के लिए मैंने अपने-आपको और अपने बच्चों को बार-बार खतरे में डाला..

क्या करेंगे आप उस लंबी यातना की दास्तान सुनकर, इतना ही जान लीजिए कि मुजफ्फर का घर छोड़ने के तीन वर्ष बाद मैंने अपने को पेशावर में पाया। तब न मेरे पास रह गया था रूप, न यौवन, लेकिन चलते रहने की एक अदम्य लालसा अभी शेष थी। जीने की लालसा जो हर खतरे को मोहक बना देती है या कहूं कि हमेशा खतरनाक परिस्थितियों में जूझते-जूझते मेरी ताकत निरंतर बढ़ती जा रही थी। जीवित रहना भी कितना विलक्षण है!

मेरे दोस्त।

यहीं वह अघटित घट गया जिसको न घटने देने के लिए मैं अब तक भागती रही थी। अनवर अब सात वर्ष का हो रहा था। दुख और कष्टों के इस पारावार ने उसमें अद्भुत संवेदना पैदा कर दी थी। वह अनचाहे, जालिम बाप का बेटा था, लेकिन वही मेरे पावों के काटे निकालता था। भीख माग लाता, मौका पड़ने पर छोटे-मोटे काम भी कर लेता। कहा से आई उसमें यह चेतना? कैसा है यह प्यार और नफरत का आल-जाल—अनबूझ-अनचाहा लेकिन कुछ भी हो, वह मेरा हमसफर बन गया। एक ऐसे सफर का साथी जिसके अगले पड़ाव का हमें कुछ पता नहीं होता था।

मेरे दोस्त, जिस डर से मुजफ्फर ने मुझे पहाड़ों में छिपाया था, पीछा करते-करते वही डर यहां आ पहुंचा। हिंदुस्तान के लोग इस इलाके में विशेष रूप से सक्रिय थे। नियति भी कैसे-कैसे खेल-खेलती है। उसने एक दिन अनवर को उन्हीं के पास भेज दिया। वह जानता था कि मैं कभी हिंदू थी। लेकिन उससे बातें करते-करते उन्हें जब पता चला कि हम कई वर्ष से भागते फिर रहे हैं तो उन्हें शक हो गया। वहीं शक उन्हें मेरे पास खींच लाया। आश्चर्य! उनके पास मेरा चित्र था और पूरा परिचय भी। मेरी आंखों ने मुझे यहां भी धोखा दिया। उन्होंने 'सुरैया' के वेश में 'प्रतिमा' को पहचान लिया। मेरे हाथों से एक और जिंदगी रेत की तरह फिसल गई। एक बार मैंने फिर मरना चाहा। चाहा कि सब बच्चों को लेकर नदी में कूद जाऊ पर हुआ यह कि मैं क्रोध से भभक उठी और मैंने अनवर को बुरी तरह पीट दिया। वह बिलबिलाता रहा और सुबकियों के बीच कहता रहा, "अम्मी! मैंने उन्हें कुछ नहीं बताया था। कुछ भी नहीं. सच अम्मी!"

उस रात उस मासूम बच्चे को छाती में समेटकर मैं कितना रोई, कोई ले सकेगा थाह मेरे उन जलते आंसुओं की

प्यारे दोस्त! प्रतिमा से सुरैया तक की यह यात्रा नारी होने की त्रासदी की यात्रा है। नर-नारी के संबंधों में नारी के हिस्से में त्रासदी ही तो आती है, जो बार-बार उसे उसकी अपनी धुरी से उखाड़ फेंकती है।

कहानी का अंतिम पर्व आ पहुंचा है। एक दिन पाया कि मैं इस नारी-निकेतन में हू—अधमृत, अधेड़, चिथड़ों में लिपटी एक लाश। कितने जीवन जी चुकी थी मैं! शायद अब यह अंत था, ऐसा अंत जो 'अनंत' है। मैं फिर प्रतिमा बन गई थी। पत्थर की प्रतिमा, जिसका एक-एक अंग तोड़ दिया गया है। जिसकी आत्मा में हजार छेद हैं, जो इस देश की भाषा में पापिष्ठा, दुराचारिणी और कलंकिनी है। और उसका सबूत हैं ये मासूम बच्चे जिनको मैंने अपने शरीर के टुकड़ों में बांट-बांटकर जन्मा है। और जिन्हें आश्रम में फिर नए नाम दिए गए हैं। वे अब अनवर, अशरफ, असगर, अहमद और अली नहीं हैं, अनिल, अशोक, असित, अमित, और अजित हैं। शायद इसीलिए अब और अधिक तिरस्कृत, अपमानित, लांछित तथा घृणा के पात्र बन गए हैं।

संचालिका ने एक दिन मुझसे कहा, “तुम्हारे ससुराल वालों को सूचना दे दी गई है, लेकिन कोई आएगा, इसकी संभावना दिखाई नहीं देती। तुम्हारी खोज उनके कहने पर नहीं, बल्कि तुम्हारे पिता के कहने पर की है हमने।”

मैंने तड़पकर जवाब दिया, “कौन आता है, कौन नहीं, इसकी मुझे चिंता नहीं है, लेकिन यह जानने का अधिकार मुझे है कि आखिर हमें इधर क्यों लाया गया? क्या आवश्यकता थी हमें अपमानित करने की?”

संचालिका मुसकराई, बोली, “देश की प्रतिष्ठा का प्रश्न था यह।”

आप सर्जक हैं। क्या मैं आपसे पूछ सकती हूँ कि मनुष्य का अपमान करके कोई अपनी प्रतिष्ठा कैसे रख सकता है? उधर मैं जैसी भी थी, घृणा की पात्र नहीं थी। मा को भगवान के समकक्ष मानने वालों के देश में नारी का अपमान क्या प्रमाणित करता है, क्या यह भी बताना होगा आपको?

संचालिका ने ठीक कहा था, कोई नहीं आया मेरी ससुराल से। आए बस मेरे पिता, लेकिन मिलने का साहस वे भी नहीं बटोर सके। मेरी कहानी सुन चुके थे। अपनी पापिष्ठा बेटी से आखें कैसे मिलाते! संचालिका ने बताया कि वे दूर से ही देखते रहे, रोते रहे, फिर वहीं से लौट गए। बाद में उन्होंने एक हजार रुपया मेरे लिए भेजा था कि मैं किसी गांव में जाकर रह सकूँ और अपने पैरों पर खड़ी हो सकूँ। आवश्यकता पड़ने पर और भी भेजते रहने का आश्वासन दिया था। लेकिन वह नहीं चाहते थे कि मेरी मा मेरे बारे में कुछ जाने।

सुनकर मैं हँस पड़ी, अब मुझे रोना नहीं आता था। पंडित लोग इसे योग की स्थिति बताते हैं। सिद्धावस्था यही नहीं है क्या शास्त्र तो, मैंने सुना था, यह भी कहते हैं कि आदमी कुछ नहीं करता। प्रकृति उसे अपने काम में जोत देती है। यानी हम यंत्र हैं किसी निश्चय करने वाली शक्ति के। तब वे लोग मुझसे नफरत क्यों करते हैं? क्यों मेरे प्यारे दोस्त.. ?

लेकिन अभी रहने दीजिए इस प्रश्नाकुलता को, अभी तो कहानी का चरम उत्कर्ष आना शेष है। और शेष है मुझे अभी और कटुता का विष पीना। हर दूसरे-तीसरे दिन मैं अनुभव करती थी कि कोई चुपचाप मुझे और मेरे बच्चों को देख रहा है। चुपचाप संचालिका से बातें कर रहा है। एक दिन संचालिका ने मुझसे पूछा, “तुम यहाँ से कहीं जाना चाहती हो?”

मैंने एक क्षण उनकी ओर देखा, फिर यत्रवत् बोली, “हां।”

उन्होंने कहा, “मैंने तुम्हारे लिए दूर एक पहाड़ी गांव में रहने का प्रबंध किया है। वहाँ के स्कूल में तुम पढ़ा सकोगी। गृहशिल्प में तुम निपुण हो। गांव की महिलाओं को प्रशिक्षित कर सकती हो। लेकिन तुम अपने इन बच्चों को कैसे पालोगी? क्या यह अच्छा नहीं होगा कि इनमें से कुछ को भले घरों में गोद दे दिया जाए.. ?

उस दिन पहली बार मेरे भीतर सोई नागिन जाग उठी। आवेग इतना प्रबल था

कि शब्द मुंह से नहीं निकल रहे थे। चाहा कि धक्का देकर उन्हें दीवार में दे मारू

सचालिका, जो सचमुच मेरे प्रति अतिरिक्त सदय हो उठी थी, मेरा यह रूप देखकर घबरा गई, तुरत बोली, “नहीं नहीं, यह जरूरी नहीं है। जल्दी भी नहीं है। मेरे मन में एक विचार उठा था, कह दिया। सोच, देखना तुम।”

और वे तुरंत मेरे सामने से हट गई। दो क्षण बाद आवेग कुछ शांत हुआ तो मैं स्वयं अपने पर चकित थी और किंचित लज्जित भी। मैं जानती थी, मैं जीवन-भर किसी पर आश्रित नहीं रह सकती। कुछ न कुछ प्रबंध मुझे करना ही होगा। गांव जाने के लिए इसलिए तैयार थी कि मैं अपने तथाकथित परिजनों से अब और अपमानित नहीं होना चाहती थी। पिताजी का दान लेना स्वयं अपना अपमान करना था। दुर्बलता के किन्हीं क्षणों में चाहा था कि उन्हें पत्र लिखू। याद करू लाड़-प्यार के उन दुर्लभ क्षणों की। फिर सोचा कि जो संस्कारों की जड़ता को तोड़कर मेरी वेदना में सहभागी नहीं हो सकता, उसको पीड़ा पहुंचाना आत्मपीडन ही नहीं होगा क्या? गांव चली जाऊंगी और अपनी संतान को पालूंगी मैं स्वयं।

प्यारे दोस्त। मैंने आपको बताया न, जो पाप और पीड़ा की राह आया और जिसकी हत्या करनी चाही मैंने, वही अनवर यानी अनिल मुझे सबसे अधिक प्यार करता है। मेरी सारी घृणा पी गया है वह नीलकण्ठ महादेव की तरह। ऐसे बर्ताव करता है जैसे वही मेरा गार्जियन है। पूछता है कभी-कभी, “अम्मी। मैं अब अनिल कैसे हो गया? अनवर और अनिल में क्या फर्क है? अम्मी। ये सब हमें ऐसे क्यों देखते हैं?”

आयु के आठवें वर्ष में ही विधाता ने कितना बोझ रख दिया इसके कंधों पर। इसके विपरीत, नूर का बेटा अशरफ जो अब अशोक है, बेहद उदंड है। हर समय हर किसी से फौजदारी करने पर तुला रहता है। लेकिन पढ़ने में होशियार है। असगर उर्फ असित सचमुच शायर का बेटा है। छह वर्ष का हुआ नहीं अभी, पर न जाने कहा खोया रहता है। कभी-कभी उनींदी आंखों से मुझे देखता है कि मेरे दिल में फारुखी की याद कसक उठती है!

कितनी यादें, कितने मंजर, किसको भूलूं, किसको याद करूं। मुजफ्फर शायद मुझे अब भी ढूंढ़ता फिरता होगा। कहीं अपने बच्चों का दावा करने न आ पहुंचे वह। उसके दोनों बच्चे अहमद और अली जो अब अमित और अजित के नाम से पुकारे जाते हैं, अपने पिता के बारे में कुछ नहीं जानते। कभी-कभी पूछते हैं, सभी पूछते रहे हैं और मैं झूठ बोलती रही हूं। किसी को कभी सच नहीं बताया। सच कुछ होता है क्या? किसी के सच को नापने का यंत्र अभी कोई वैज्ञानिक नहीं बना पाया है।

स्कूल के रजिस्टर में मा का नाम कभी नहीं लिखा जा सकता। बाप अनिल, अशोक, असित, अमित और अजित का कोई है नहीं। हैं तो अशरफ, असगर, अहमद और अली के हैं। अनवर के बाप को तो कोई जान ही नहीं सकेगा। कैसा अच्छा था उपनिषद् काल का भारत। उस काल के परमतत्त्ववेत्ता सत्यकाम की दासी मां जाबाला

मे यह कहने का साहस था, “मैं नहीं जानती तुम्हारे पिता कौन थे। तुम मेरे बेटे हो। मेरा ही नाम लिखा दो गुरु के रजिस्टर में।

और तब सत्यकाम का नाम हुआ—सत्यकाम जाबाल। क्या आज मेरे बेटों को यह अधिकार मिल सकता है? क्या वे गर्व से सिर उठाकर कह सकेंगे कभी, ‘हमें पता नहीं पता, हमारा पिता कौन था। हम मां को जानते हैं और उनका नाम है प्रतिमा। वही लिख लीजिए रजिस्टर में।’

मातृत्व को नारी का चरम सौंदर्य माना है। वह मुझे मुक्तकंठ से मिला है। किस ओर से मिला, यह प्रश्न गौण है। इसे एक और दृष्टि से भी देखिए, आर्य परंपरा में मा का पद सर्वोच्च है इसीलिए तो जहर भी सबसे अधिक पीना पड़ता है, नारी होने के अपमान का जहर.. मुझे कहने दो, मेरे दोस्त! जिसे सबसे अधिक अपमानित करना होता है उसे ही सबसे सुंदर विशेषण दिए जाते हैं। बलि के बकरे को हृष्ट-पुष्ट न करेंगे तो कौन खरीदेगा उसे? आपने नर-नारी के सबधों के सौंदर्य में इस तथ्य की चर्चा नहीं की है। पुरुष है न अंततः .

आप सोचेंगे, मैं इतनी क्रूर क्यों हो उठी हूँ।

उस दिन तभी वर्षा होकर चुकी थी। वातावरण एक सोंधी-सोधी गंध से महक रहा था। मैं अपने कमरे की खिड़की का लोभ संवरण न कर सकी। यह वही खिड़की है जिसकी सलाखों पर अपना भीगा चेहरा टिकाकर मैंने आपको देखा था।

उस दिन देखा एक किशोर होते बालक को—स्वस्थ, सुंदर, स्कूल की शुभ्र-श्वेत पोशाक, पीठ पर बस्ता, धीरे-धीरे चौकन्ना-सा वह आश्रम के मुख्य द्वार तक आया और वहीं से उचक-उचककर मेरी खिड़की की ओर देखने लगा। मैं चौकी, मेरा कौतूहल जाग आया। मैंने सलाखों पर चेहरा टिकाकर उसे गौर से देखा। वह भी तब टकटकी बांधे इधर ही देख रहा था। हमारी दृष्टि मिली, उसने जैसे प्रेत देखा हो, तेजी से मुड़ा और ताबडतोड़ भागने लगा। एक बार भी मुड़कर नहीं देखा उसने।

हतप्रभ-स्तब्ध एक क्षण तो समझ न पाई, फिर तो एक ठंडी सिहरन मेरे रेशे-रेशे में उतरती चली गई—कहीं .कहीं.. ।

“नहीं . नहीं .” मैं तेजी मुड़ी। अनिल सामने आ गया। मेरी ओर देखा उसने, चेहरे पर प्रश्न उभरा, “क्या है अम्मी?”

“कुछ नहीं। कुछ नहीं, बेटे।” मैंने अपने को सहेज लिया, पर भीतर ..

“एक बात बताऊ, अम्मी?”

“क्या बात है?” मैं फिर सिहरी।

“मैं बताना भूल गया था,” अपराधी की तरह उसने कहा, “कई दिन से एक लड़का यहां आता है।”

यहां तो बहुत से लोग आते हैं लड़के भी होते हैं उनमें तुम किस लड़के की ..

अनिल कहता रहा, “वह बहुत अच्छा है। उसने मुझे चाकलेट दी थी। उसने पूछा था, ‘वहा कोई प्रतिमा है?’

“मैंने एकदम कहा, ‘हां, अब मेरी मम्मी का यही नाम है।’

“उसने पूछा, ‘अब यही नाम है। पहले नहीं था?’

“मैंने कहा, ‘पहले तो उनका नाम सुरैया बेगम था। जैसे मेरा नाम अनवर था। अब मे अनिल हूं।’

“वह बोला, ‘तब वह कोई और है, लेकिन क्या तुम मुझे उन्हे दिखा सकते हो?’

“मैंने कहा, ‘हां-हां, उम खिड़की वाले कमरे में रहते हैं हम। आओ मेरे साथ।’

“‘नहीं-नहीं, फिर आऊंगा।’ कहता हुआ वह भाग गया था। वही आज फिर आया ”

न जाने वह कौन-सी ‘मैं’ थी जो यह सब सुन रही थी और न जाने वह भी कौन-सी ‘मैं’ थी, जिसने पूछा था, “उसका नाम जानते हो?”

“हां-हां, आशिम है उसका नाम।”

दोनों हाथों से दीवार न थाम लेती तो निश्चय ही बेहोश हो गई होती। पसीने से तर हो आई थी। अनिल ने सहज भाव से पूछा, “तुम उसे जानती हो, अम्मी?”

मैंने तीव्रता के प्रतिवाद किया मानो चीख उठी हूं, “नहीं, नहीं, मैं किसी को नहीं जानती यहां।”

अनिल ने अब मेरी ओर देखा। मेरे श्वेत हो आए चेहरे को देखकर घबरा गया वह। बोला, “तुम्हारी तबियत खराब है, अम्मी, तुम लेट जाओ।”

बेचारा अनिल। क्या बताऊ उसे। अपने को बटोरकर इतना ही कहा, “नहीं बेटे। तबियत मेरी ठीक है, लेकिन तुम अब उससे बात मत करना। हमें अजनबियों से दोस्ती नहीं.. ”

मैं अपना वाक्य पूरा ही नहीं कर पाई। उसने दीर्घ निश्वास खींचकर कहा, “अच्छा।”

उसका यह ‘अच्छा’ शब्द सुनकर मुझे आपकी याद आ गई। आपने भी तो उसी दिन इसी तरह कहा था, ‘अच्छा’ पर कहां आप, कहां यह बच्चा। मैं पागल हो उठी उसके मुह से यह शब्द सुनकर, चाहा कि दोनों हाथों से उसका गला घोटती रहू, घोटती रहू . लेकिन हुआ यह कि मैंने खींचकर उसे अपनी छाती में भर लिया और अपने को रोकने में असमर्थ फूट-फूटकर रोने लगी।

जानते हो, दो क्षण मुझे क्या लगा था। लगा था, वह अनिल नहीं आशिम है और मैं ताबड़तोड़ उसका मुह चूम रही हूँ .

कई दिन तक मैं सौंखर्चों पर मुह टिकाए उसी दिशा में टकटकी बांधे देखती

भटकते-भटकते किसी शानदार बंगले में पहुँच गई हूँ। कैसी ऐयाशी कैसी प्रचुरता! पर यह चीख कैसी है, किसी बच्चे की मर्मांतक चीख भागी-भागी मैं अंदर जाती हूँ। देखती हूँ कि एक क्रूर युवक एक आठ-नौ वर्ष के बच्चे को बेटों से पीट रहा है, "कबखत, अगर अब कभी उधर पैर भी रखा तो जमीन में गाड़ दूंगा।"

बच्चा चीखता है, "नहीं, नहीं, मैं नहीं जाऊंगा। मुझे मारो मत मुझे मारो मत।"

पहचान लेती हूँ, वह क्रूर युवक मेरा देवर है। उसके पीछे खड़ी है मेरी सास। मैं तड़पकर आगे बढ़ती हूँ और युवक के हाथ से बेंत छीन लेती हूँ "उस मासूम को क्यों मारते हो? अपराधी मैं हूँ, मुझे मारो!"

वे सकपकाकर मेरी ओर देखते हैं, पहचान लेते हैं। दूसरे ही क्षण आशिम भागता हुआ मुझसे आ चिपकता है, और मेरी बांहों में बेहोश हो जाता है..

मेरी सास चीख रही है, "निर्लज्ज, कलंकिनी, तुझसे मरा नहीं गया। तेरी लाश पाकर हम कितने गौरवान्वित होते!"

तभी नींद खुल जाती है। अधरे में बार-बार आंखें फाड़ें देखती रहती हूँ। सोचती रहती हूँ, 'क्यों? क्यों आदमी अपने से ही छल करता है, अपने ही 'मैं' से अजनबी हो जाता है' जो नितांत मेरा अपना है, जो प्यार का प्रतिरूप है, उसी-से वंचित हूँ मैं। कारण कुछ भी रहा हो, कुत्ती कर्ण के पास जा सकी थी, पर मैं.

उसी दिन सचालिका के पास गई। मैं बोली, "आप मुझे दूर किसी पहाड़ी गाँव में भेज रही हैं न। मैं तैयार हूँ आज ही जाने को। पर मेरे बच्चों को मुझसे अलग मत कीजिए। मैं उनका अपमान नहीं होने दूँगी।"

मेरे दोस्त! मैं अगले हफ्ते जा रही हूँ एक और जीवन जीने के लिए। न जाने क्यों आपको देखने की चाह उभर आई है मन में। क्यों लगने लगे हैं आप अपने? इसी अपनेपन के कारण ही आपको दोस्त कहकर संबोधित किया है मैंने। मन दोस्त के सामने ही खोला जा सकता है। कैसा है यह अनोखा रिश्ता. सपनों से जुड़ा और आख खुली तो हाथ लगा एक विराट् शून्य फिर भी भरोसा मुझे है और वह मेरे अंदर से आया है बिना किसी के दखल के। जिस घोर यंत्रणा और संक्रांस के दौर से मैं गुजरी हूँ उसने मुझे यही संपदा तो बख्शी है। यह मेरे अंदर की गहराइयों में समा गई है। इसे भौतिक नेत्रों से नहीं देखा जा सकता।

अच्छा। बाहर वर्षा होने लगी है, होनी चाहिए। चाहिए न ठूँठ में नई कोपले फोड़ने के लिए

— आपकी प्रतिमा उर्फ आयशा उर्फ सुरैया उर्फ प्रतिमा

अनिल कहता रहा, “वह बहुत अच्छा है। उसने मुझे चाकलेट दी थी। उसने पूछा था, ‘वहां कोई प्रतिमा है?’

“मैंने एकदम कहा, ‘हां, अब मेरी मम्मी का यही नाम है।’

“उसने पूछा, ‘अब यही नाम है। पहले नहीं था?’

“मैंने कहा, ‘पहले तो उनका नाम सुरैया बेगम था। जैसे मेरा नाम अनवर था। अब मे अनिल हू।’

“वह बोला, ‘तब वह कोई और है, लेकिन क्या तुम मुझे उन्हे दिखा सकते हो?’

“मैंने कहा, ‘हा-हा, उस खिडकी वाले कमरे में रहते हैं हम। आओ मेरे साथ।’

“‘नहीं-नहीं, फिर आऊंगा।’ कहता हुआ वह भाग गया था। वही आज फिर आया ..”

न जाने वह कौन-सी ‘मै’ थी जो यह सब सुन रही थी और न जाने वह भी कौन-सी ‘मै’ थी, जिसने पूछा था, “उसका नाम जानते हो?”

“हा-हां, आशिम है उसका नाम।”

दोनों हाथों से दीवार न थाम लेती तो निश्चय ही बेहोश हो गई होती। पसीने से तर हो आई थी। अनिल ने सहज भाव से पूछा, “तुम उसे जानती हो, अम्मी?”

मैंने तीव्रता के प्रतिवाद किया मानो चीख उठी हूं, “नहीं, नहीं, मैं किसी को नहीं जानती यहां।”

अनिल ने अब मेरी ओर देखा। मेरे श्वेत हो आए चेहरे को देखकर घबरा गया वह। बोला, “तुम्हारी तबियत खराब है, अम्मी, तुम लेट जाओ।”

बेचारा अनिल। क्या बताऊं उसे। अपने को बटोरकर इतना ही कहा, “नहीं बेटे। तबियत मेरी ठीक है, लेकिन तुम अब उससे बात मत करना। हमें अजनबियों से दोस्ती नहीं ..”

मैं अपना वाक्य पूरा ही नहीं कर पाई। उसने दीर्घ निश्वास खींचकर कहा, “अच्छा।”

उसका यह ‘अच्छा’ शब्द सुनकर मुझे आपकी याद आ गई। आपने भी तो उसी दिन इसी तरह कहा था, ‘अच्छा’ पर कहां आप, कहां यह बच्चा। मैं पागल हो उठी उसके मुह से यह शब्द सुनकर, चाहा कि दोनों हाथों से उसका गला घोटती रहू, घोटती रहूं लेकिन हुआ यह कि मैंने खींचकर उसे अपनी छाती में भर लिया और अपने को रोकने में असमर्थ फूट-फूटकर रोने लगी।

जानते हो, दो क्षण मुझे क्या लगा था। लगा था, वह अनिल नहीं आशिम है और मैं ताबडतोड उसका मुंह चूम रही हूं...

कई दिन तक मैं सीखचों पर मुह टिकाए उसी दिशा में टकटकी बाधे देखती रही पर वह फिर नहीं आया, फिर नहीं आया...

. भटकते-भटकते किसी शानदार बंगले में पहुँच गई हूँ। कैसी ऐयाशी कैसी प्रचुरता। पर यह चीख कैसी है, किसी बच्चे की मर्मतिक चीख भागी-भागी मैं अंदर जाती हूँ। देखती हूँ कि एक क्रूर युवक एक आठ-नौ वर्ष के बच्चे को बेटों से पीट रहा है, “कबखत, अगर अब कभी उधर पैर भी रखा तो जमीन में गाड़ दूंगा।”

बच्चा चीखता है, “नहीं, नहीं, मैं नहीं जाऊंगा। मुझे मारो मत. मुझे मारो मत।”

पहचान लेती हूँ, वह क्रूर युवक मेरा देवर है। उसके पीछे खड़ी हूँ मेरी सास। मैं तड़पकर आगे बढ़ती हूँ और युवक के हाथ से बेंत छीन लेती हूँ “उस मासूम को क्यों मारते हो? अपराधी मैं हूँ, मुझे मारो।”

वे सकपकाकर मेरी ओर देखते हैं, पहचान लेते हैं। दूसरे ही क्षण आशिम भागता हुआ मुझसे आ चिपकता है, और मेरी बांहों में बेहोश हो जाता है।

मेरी सास चीख रही है, “निर्लज्ज, कलंकिनी, तुझसे मरा नहीं गया! तेरी लाश पाकर हम कितने गौरवान्वित होते।”

तभी नींद खुल जाती है। अधरे में बार-बार आँखें फाड़े देखती रहती हूँ। सोचती रहती हूँ, ‘क्यों? क्यों आदमी अपने से ही छल करता है, अपने ही ‘मैं’ से अजनबी हो जाता है..’ जो नितांत मेरा अपना है, जो प्यार का प्रतिरूप है, उसी-से वंचित हूँ मैं। कारण कुछ भी रहा हो, कुती कर्ण के पास जा सकी थी, पर मैं

उसी दिन संचालिका के पास गई। मैं बोली, “आप मुझे दूर किसी पहाड़ी गाँव में भेज रही हैं न। मैं तैयार हूँ आज ही जाने को। पर मेरे बच्चे को मुझसे अलग मत कीजिए। मैं उनका अपमान नहीं होने दूँगी।”

मेरे दोस्त। मैं अगले हफ्ते जा रही हूँ एक और जीवन जीने के लिए। न जाने क्यों आपको देखने की चाह उभर आई है मन में। क्यों लगने लगे हैं आप अपने? इसी अपनेपन के कारण ही आपको दोस्त कहकर संबोधित किया है मैंने। मन दोस्त के सामने ही खोला जा सकता है। कैसा है यह अनोखा रिश्ता...सपनों से जुड़ा और आँख खुली तो हाथ लगा एक विराट् शून्य फिर भी भरोसा मुझे है और वह मेरे अंदर से आया है बिना किसी के दखल के। जिस घोर यंत्रणा और सत्रास के दौर से मैं गुजरी हूँ उसने मुझे यही संपदा तो बख्शी है। यह मेरे अंदर की गहराइयों में समा गई है। इसे भौतिक नेत्रों से नहीं देखा जा सकता।

अच्छा। बाहर वर्षा होने लगी है, होनी चाहिए। चाहिए न ठूठ में नई कोपले फोड़ने के लिए

— आपकी प्रतिमा उर्फ आयशा उर्फ सुरैया उर्फ प्रतिमा

मृत्युंजय

उस दिन कैप में जाने पर अचानक एक पुराने मित्र से भेट हो गई। पास जाकर देखता हूँ— उसका चेहरा रूखा और झुर्रियों से भरा हुआ है। शरीर पर के कपड़े न केवल मैले हैं बल्कि अनुपयुक्त भी हैं। पैर सूजे हुए हैं और क्षत-विक्षत भी। पास ही उसका बेटा बैठा है। वह भी उसी की तरह घायल और श्रीहीन है। उसकी कातर दृष्टि दिल में कसक-कसक उठती है।

मुझे एकाएक देखकर मेरा मित्र एक क्षण तो स्तब्ध हो रहा फिर मुसकराया, “तुम..”

मैंने द्रवित होकर कहा, “तुम्हारी यह दशा..?”

उसने अपने को संयत कर लिया था। वह हँस पड़ा, बोला, “मुझे बधाई दो, मेरे दोस्त, मैं जिंदा हूँ।”

वहाँ तब बड़ी भीड़ थी और शोर मच रहा था— क्रोध, खीज और रुदन से भरा शोर। उसी के बीच अनेक युवक और युवनिया तत्परता से सैनिक की भांति व्यवस्था में लगे थे। उन्हीं को घेरकर कभी कोई परिवार तेजी से बोलने लगता था, कभी कोई व्यक्ति अपने प्रियजनो के बारे में जानने को व्याकुल प्रश्न पर प्रश्न करके उन्हें परेशान कर देता था। लेकिन दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे जो सूजे हुए पैर और फटी हुई आंखें लिए इधर-उधर कोनो में बिखरे पड़े थे। वे न बोलते थे, न उनकी आखों में आसू थे। वे बस, सिर नीचा किए धरती से बातें करते या फिर सिर उठाकर शून्य में ताक लेते थे। वह शून्य सूरज की धूप और चीलों से भरा था। कभी-कभी हवाई जहाज की घर्-घर् पक्षी-दल में हलचल पैदा कर देती, तब कैप के रोते-हँसते बच्चे चुप होकर ऊपर देखने लगते।

मैं मान लूंगा कि मैं उलझन में पड़ गया था। क्या कहूँ? कैसे कहूँ? हम दोनों बहुत दिन तक एक ही शहर में एक साथ रहे थे। एक ही महकमे में काम करते थे। इसी लिए हमारी मित्रता साधारण जान-पहचान से काफी आगे बढ़ गई थी। वह सुदूर पश्चिम का रहने वाला था और उसका शरीर इतना सुगठित था कि घर में स्वास्थ्य की चर्चा करते समय हम उसको आदर्श मानते थे। वही मित्र आज बुढ़ापे को लजा रहा था। मैंने साहस बटोरा, पूछा, “तुम थे कहाँ?”

“गाव में।”

“यहाँ कब आए?”

“कल रात”

“पैदल?”

“हां।”

मैं फिर मौन हो गया। एक अव्यक्त तरलता मुझे बेचैन कर रही थी और मैं बोलने को शब्द नहीं खोज पा रहा था। किसी तरह कहा, “यहा ठहरे हो?”

“अभी तो यही हू।”

“घर चलो।”

वह कृतज्ञता से मुसकराया। बोला, “यह क्या घर नहीं है?”

मैंने कहना चाहा पर कह सकू इससे पूर्व ही कोई चीत्कार कर उठा। तब जो अब तक नहीं देख पाया था, वह देखा। उसके पीछे एक कोने में एक वृद्ध पुरुष पैर सिकोड़े लेटे थे। उनके सूजे हुए पंजे ऊपर तक फटे हुए थे और उनमें रक्त चमक आया था। उनकी आंखें बिलकुल अंदर धंस गई थीं और कोए सूज रहे थे। वे कभी-कभी तेजी से ‘आह’ करते और फिर एक हाथ से दिल को सहलाने लगते। कभी-कभी दोनों हाथों से मुंह ढककर चीत्कार कर उठते। उनका यही चीत्कार सुनकर मैं चौंक पड़ा था। मैंने अब अचरज से उन्हें देखा, वे मेरे मित्र के पिता थे। तब एक क्षण में असंख्य चित्र मेरे नेत्रों में उभरते चले गए। वे उस सुखी परिवार के नेता थे जिसमें शक्तिशाली पुत्र और लावण्यमयी पुत्रियां थीं, जिस परिवार की पुत्रवधुएं अपने पुत्रों की तुलना शकुंतला के पुत्र ‘भरत’ से करने को आतुर रहा करती थीं। उनके शिशु सचमुच सिंह के दांत गिनने वाले भरत के समान सुंदर और दुस्साहसी थे।

मुझे होश आया तो मैं उनकी ओर बढ़ा पर तभी देखा— चीत्कार बढ़ हो गया है और वे एक ओर लुढ़क गए हैं। मैंने शीघ्रता से मित्र से कहा, “देखो, ये सजाहीन हो रहे हैं, शायद इन्हें दौरा पड़ गया है, मैं डाक्टर को देखता हूं। तब तक तुम इनके मुंह में पानी डालो।”

और मैं शीघ्रता से डाक्टर के कमरे की ओर मुड़ा पर तभी मित्र ने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहा, “उन्हें इसी तरह पड़े रहने दो, मेरे दोस्त।”

“क्यों..?”

“इन्हीं कुछ क्षणों में उन्हें शांति मिलती है, उसे मत छीनो।”

“पर..?”

मैंने देखा—उसकी पुतलियां घूमों और सजल हो उठीं, लेकिन उस ओर से असंपृक्त वह पूर्वतः मुसकराया, बोला, “मेरे दोस्त। इनकी बेहोशी में ही इनका कल्याण है। इन्हे इसी तरह रहने दो।”

मेरे भीतर तूफान घुमड़ रहा था। मैंने पास आकर उससे कहा, “आखिर क्या बात है? और लोग भी तो नहीं दिखाई दे रहे।”

“तीन पीढ़िया तुम्हारे सामने हैं।” उसने उत्तर दिया—“और क्या चाहते हो?”

वे कापे, "घर .।"

"हां चाचाजी, यहा तो. "

पर मैं अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि वे फिर चीत्कार कर उठे, "घर मेरे बच्चे! यह क्या हुआ, आखिर क्या हुआ?"

और वे सुबक-सुबककर रोने लगे। मैं हतबुद्धि उन्हें देखता ही रह गया। मित्र बोले, "उन्हे यों ही छोड़ दो। वे अब फिर सज़ाहीन होने वाले हैं और यही उनके लिए अच्छा है।"

मैं बरबस उठा और मित्र के पास जा बैठा। कई क्षण उन्हें देखता रहा। वे धीरे-धीरे संज़ाहीन हो रहे थे। हाथ लटक गए, आखें पथरा गई और सास रुक-रुककर आने लगी। मैंने धीरे से मित्र से पूछा, "आखिर यह सब क्या हुआ? क्या आप लोगों के साथ सेना नहीं थी? आप लोग रेल से क्यों नहीं आए? उन दिनों आप कहा थे?"

उसने मेरी ओर देखा, दो क्षण देखता रहा। फिर बिना किसी भूमिका और भावुकता के वह बोलने लगा, "मेरे दोस्त, हुआ यह.. उन दिनों हम सब पिताजी के साथ गांव चले गए थे."

"गांव क्यों?"

"क्योंकि हमें विश्वास था कि शहर की आग गांव में नहीं पहुंच सकती। यह विश्वास आधारहीन नहीं था। देश में जो हिंसा और घृणा का वातावरण बन गया था, उसके बावजूद गांवों में शांति थी। यद्यपि वहां पर उन लोगों का प्रबल बहुमत था, फिर भी वहां कभी सांप्रदायिक दंगे नहीं भड़के। भड़क ही नहीं सकते थे। हम लोग उन्हीं के समान धरती की संतान थे। एक ही मिट्टी से हमारा शरीर बना था। लेकिन सूझ-बूझ और समझ में वे हमारे सामने बच्चे थे। यही हमारा सबसे बड़ा सबल था। वे सदा अपनी समस्याएं लेकर हमारे पास आते थे और हमारा आदर करते थे। खानदान के वे बधन जो देश के इस भाग में हैं, उधर नहीं थे। जो थे, वे भी अब टूटते जा रहे थे। विशेषकर नई पौध में इन बधनों का कोई मूल्य नहीं रह गया था।"

वह फिर मौन हो गया। मानो कुछ याद करना चाहता हो। दो क्षण बाद धीरे-धीरे बोला, "लेकिन धर्म उनके लिए सामाजिक वस्तु है, व्यक्तिगत नहीं। इसी कारण जब देश में 'धर्म खतरे में है' की पुकार गूँज उठी, तब, वह प्रत्येक व्यक्ति जो उनके धर्म का नहीं था, स्वभावतः उनका दुश्मन बन गया। फिर भी इस प्रक्रिया में काफी देर लगी। और मैं अपने गांव वालों की प्रशंसा करूंगा कि वे बहुत दिनों तक अपने-आपको उस धारा में बहने से रोके रहे। वे जानते थे कि देश आतंकवाद और हिंसा के चक्रव्यूह में फँस गया है। उसके समाचार भी वहां पहुंचते रहते थे। समाचार अपने जन्म-स्थान से जितनी दूर की यात्रा करते हैं, सत्य से उतनी ही दूर हट जाते हैं। फिर भी उन लोगों ने कहा—कहीं कुछ भी हो हम दोस्त हैं और उस दोस्ती को कायम रखेंगे।"
लेकिन वे दोस्त होने के लिए, अपने धर्म के पक्ष में अपनी भावनाओं को

उभारते थे, परंतु वे फिर भी हमें दुश्मन नहीं समझ पा रहे थे। हां, धीरे-धीरे युवकों में कटुता पैदा होने लगी थी।”

मैंने कहा, “उनका खून गरम होता है।”

“और गरम खून में गर्मी पैदा करना बड़ा आसान होता है। गरम लोहे को किसी भी सांचे में ढाला जा सकता है। ये युवक गरम लोहे के समान थे, इसी कारण स्वार्थी नेता अतंतः उन्हें अपने मार्ग पर लाने में सफल हो गए।”

मैंने धीरे से कहा, “मित्र, क्या केवल धर्म के कारण ही यह सब हुआ?”

वह मुसकराया, “मैं जानता हूँ, तुम क्या कहना चाहते हो? हमारी अमीरी और उनकी गरीबी भी इसका कारण है।”

“और दूसरों को नीचा देखने की हमारी प्रवृत्ति भी।”

“तुम ठीक कहते हो,” उसने कहा, “इसी कारण वह समुदाय जो ऊपर से शांत था अंदर ही अंदर डगमगा गया। एकाएक जब भूचाल आया तो सबकी आशा के विपरीत प्रेम और मौहार्द की दीवार भरभराकर गिर पड़ी।”

धीरे-धीरे वह इस प्रकार बोलने लगा था जैसे हम किसी सभा में बैठे हुए शास्त्रीय विषयों पर वाद-विवाद करने लगे हों। वह दुखी था, त्रस्त भी। पीड़ा ने उसे पूरी तरह ग्रस लिया था। इसी लिए सच्ची बात कह रहा था।

तभी वृद्ध फिर पुकार उठे, “अरे, यह क्या हुआ? मेरी बच्चियों को यह क्या हुआ?”

“बहुत अच्छा हुआ, पिताजी।” उसने दृढ़ता से कहा, “कुछ लोग कहते हैं, पंजाब ने सदा देश की पीठ पर छुरा भोंका है, सदा राष्ट्रीय आंदोलन को कुचला है, पर आज आपने बता दिया है कि पंजाबी वह कुछ कर सकता है, जो कोई और करने की कल्पना तक नहीं कर सकता।”

वृद्ध के हाथ लडखड़ाए, उन्होंने दीवार को थाम लिया और चाहा कि उठे, उठते-उठते वे फुसफुसाए, “सच बेटा? क्या सच?”

लेकिन यह सब क्षणिक था, वृद्ध ने फिर एक सर्द आह भरी। फिर संज्ञाहीन होने लगे और वह बच्चा जो अब तक चुपचाप बैठा हुआ था, पिता के घुटने पर सर रखकर रोने लगा। मित्र ने उसे पुचकारकर कहा, “क्यों हरीश, क्या बात है, बेटा?”

हरीश ने रोते-रोते कहा, “मा . . .”

“अरे, अरे, तू बहादुर होकर इतना कातर होता है, बाबा को तो देख।”

हरीश ने गरदन उठाई। उसने कहा, “आंसू पोछ।” हरीश ने आंसू पोंछ लिए। उसने कहा, “अब हँस।”

हरीश हँस पड़ा। वह भी और मैं भी, पर जैसे ही हँसी रुकी मैंने देखा वह स्वयं रोने लगा है। मैंने अचकचाकर कहा, “इसकी मां कहाँ है?”

कई क्षण लगे उसे अपने को बटोरने में। उसने अपने को संभाल लिया। पहले

की तरह बोला—धीरे गंभीर स्वर में, “बात जब बहुत बिगड़ गई और हवा के कण कण में विष फैल गया तो पिताजी अपनी ओर के कई वृद्ध पुरुषों को लेकर उनके पास पहुंचे, परंतु वहां जाकर पता लगा कि दुनिया सचमुच बदल चुकी है और उनके बचने की कोई आशा नहीं है। ये लोग घबराए, पूछा, ‘आखिर हमने क्या किया है।’

“जवाब मिला, ‘बात हमारे और तुम्हारे बीच में नहीं रही है। अब दो कौमो के मरने-जीने का सवाल है। जो बलवान होगा, वही जीएगा।’

“मेरे पिता ने कहा, ‘लेकिन हम तो ।’

“जवाब मिला, ‘हम कुछ नहीं जानते, तुम लोगो ने बिहार में, अमृतसर में, लाहौर में और. ’

“आगे विवाद बेकार था। पानी सर से उतर चुका था। पिताजी लौट आए। बाहर आकर उन्होंने एक वृद्ध सज्जन को खड़े देखा। उन्होंने हमें गोद में खिलाया था। वे दुखी स्वर में बोले, ‘यह सच है, बात हमारे हाथ में नहीं रही। तुम चुपचाप यहां से भाग जाओ।’

“पिताजी ने उनकी आंखों में झांकते हुए कहा, ‘भागकर कहा जा सकते हैं जंगल की आग चारों ओर फैल चुकी है।’

“वृद्ध ने दोनों हाथ पिताजी के कंधों पर रखकर धीरे से कहा, ‘मैं अकेला हू। मैं केवल तुम्हारे परिवार को अपनी गाड़ियों में ले जा सकता हूँ, लेकिन. ’

“बात काटकर पिताजी बोले, ‘सुनो, मैं कहीं नहीं जाऊंगा, यहीं रहूंगा। इसी मिट्टी में हम पैदा हुए हैं, इसी में मिल जाने का हमारा अधिकार हमसे कोई नहीं छीन सकता।’

“और वे लौट आए। प्रतिदिन समाचार आते थे—अमृतसर में स्त्रियों को नगा करके उनका जुलूस निकाला गया। सड़क पर खुले आसमान के नीचे उनके साथ बलात्कार किया गया। उनकी छातियां काट ली गईं। लाहौर में बच्चों का सिर भालों की नोक में छेदकर शहर में घुमाया गया। जम्मू में गाड़ी रोककर सभी स्त्री-पुरुषों को मौत की घाट उतार दिया गया।

“तीसरे दिन उन लोगों का भी संदेश आ गया, ‘अपनी लड़कियां सौंप दो और हमारे धर्म में आ जाओ।’

“हमारे हितैषी वृद्ध ने कहलवाया, ‘ये शर्तें मान लेने पर निकलने में आसानी होगी।’ परंतु पिताजी ने जवाब भेज दिया, ‘जिंदगी भगवान की अमानत है, मैं उसका सौदा नहीं कर सकता।’

“उसी रात हमला हुआ। उनमें अधिकतर लोग बाहर के थे। पुलिस और फौज उनके साथ थी। वे सभी आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित थे।”

वह फिर दो क्षण मौन हो रहा। युगों जितने वे क्षण कितने भयानक थे, पर तभी उसने अपने को सहेज लिया, बोला, “हम लोग भी सजग थे। जी तोड़कर लड़े। कुछ

लोग भाग निकले। भागती हुई नागिया पकड़ी गई और उनके साथ वही सलूक हुआ जो कोई नर पिशाच कर सकता है। पिताजी ने मुझे बुलाकर कहा—‘मेरे परिवार की एक भी नारी उनके हाथ नहीं पड़ सकती!’

‘‘मैंने जवाब दिया, ‘मैं जीवन के अंतिम क्षण तक उनकी रक्षा करूंगा।’

‘‘वे बोले, ‘और अंतिम क्षण के बाद?’

‘‘मैं हठात् और उत्तर नहीं दे सका। वे मुसकराए बोले, ‘बेटा, अंतिम क्षण आने से पहले ही उनका प्रबन्ध करना होगा। हमें उन्हें गोली से उड़ा देना होगा।’

‘‘मैं स्वीकार करूंगा, मैं कांप उठा था। मैंने पिताजी की आंखों में झांका। वे मुसकरा रहे थे। मैंने यत्रवत फौलादी दृढ़ता से कहा, ‘मैं आपकी आज्ञा का पालन करूंगा, पिताजी।’

‘‘एक एक करके हमारे साथी गिरते जा रहे थे। मैंने अपने दोनों भाइयों को गिरते देखा। मैंने देखा कि मेरा भतीजा पागलों की तरह राइफल चला रहा है, पर तभी उधर से एक गोली उड़ी और वह चिरनिद्रा में सो गया। पिताजी चिल्लाए, ‘जल्दी करो मेरे बेटे।’

‘‘दौड़ता हुआ मैं अंदर पहुंचा, मैंने सबसे पहले अपनी पत्नी को गोली मार दी। वह तब दोनों हाथों से मुह ढके भगवान को पुकार रही थी। फिर मैंने अपनी छोटी भाभी के प्राण लिए और फिर छोटी बहन के। तभी मेरी दूसरी बहन दौड़ी हुई आई, बोली, ‘भैया, बड़ी भाभी का पता नहीं लग रहा है।’

‘‘मैंने कहा, ‘राज, तुम अपनी चिंता करो।’

‘‘राज होंसी, ‘मैं तैयार हूं, गोली छोड़ो।’

यहां आकर उसका गला भर आया। वाणी रुंध गई। क्षण-भर उसने अपने पिता की ओर देखा, फिर सकुचाते हुए कहा, ‘‘और मैंने राज को भी गोली मार दी। वह तब मुसकरा रही थी। कहां से आ जाता है यह साहस सकट के क्षणों में!’’

उसने फिर अपने को सम्हाला, बोला, ‘‘पिताजी ने यह देखकर सुख की सास ली। वह इनकी अंतिम सुख की सास थी। वे लोग हर्ष से चिल्ला रहे थे और आग लगा रहे थे, परंतु मुझे बड़ी भाभी की तलाश थी। आग के प्रकाश में मैंने देखा, बड़ी भाभी घर के सब बच्चों को घेरे अपने कमरे में बैठी है। मुझे देखकर वे मुस्कराई, बोली—‘तुम जिन्दा हो, लो इन्हें सम्हालो। मैं इसी आग में जलना चाहती हूं।’

‘‘मैंने कहा, ‘जलने का समय नहीं है भाभी, वह आ पहुंचे हैं। मैं तुम्हें गोली से मार देता हूं।’

उसका साहस जवाब दे रहा था। वह तेजी से अपने पुत्र की कमर सहलाने लगा। मैंने अपने आंसू पोंछकर धीरे से कहा, ‘‘बच्चे कहां हैं?’’

‘‘बच्चे।’’ वह फुसफुसाया, ‘‘बच्चों को उन्होंने भालों की नोक पर रखकर घुमाया था। हरीश और अविनाश को मैं बचा सका था। वह भी उन वृद्ध की सहायता

से। न जाने कहाँ से आकर वे इन दोनों को उठाकर ले गए और फिर एक दिन चुपके से कैप में छोड़ गए। लेकिन अविनाश रास्ते की थकावट न सहकर एक दिन सड़क के किनारे सदा के लिए सो गया.. ”

“तो आप निकल भागे थे?”

“नहीं, नहीं।” उसने कहा, “हम भागे नहीं। लड़ते-लड़ते जब हमारे पाँच सौ प्राणियों में से पचास बच गए थे तो फौज ने हमें एकत्रित करके पास के नगर के एक स्कूल में बंद कर दिया। हम शरणार्थी बना दिए गए और सरकार हमारी रक्षा का ठिठोरा पीटने लगी। वही से एक दिन एक काफिले के साथ भारत की ओर बढ़े ”

सहसा उसकी दृष्टि पिताजी पर पड़ी। वे होश में आ रहे थे और दर्द-भरे स्वर में पुकारने लगे, “यह क्या हुआ? मेरी बच्चीया? यह क्या हुआ ।”

परंतु इस बार मित्र ने उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। मुझे अपने पैर दिखाते हुए बोला, “आगे की कहानी यहाँ लिखी हुई है। यह अकेले मेरी कहानी नहीं है, मेरे देश की कहानी है, आज मेरा देश घायल है, मेरे दोस्त. ”

फिर एक गहराता मौन हम दोनों के बीच आकर ठहर गया। मेरे अंतर्ग मे घंटियाँ बजने लगी थीं। कैप का शोर कभी तीव्र हो उठता, कभी दब जाता। तभी सहसा मेरे मित्र ने कहा, “एक काम करोगे, दोस्त?”

“कहो।”

“दस रुपये मुझे उधार दे दो।”

मैंने चुपके से बिना कुछ कहे दस रुपये का एक नोट निकाला और उसके हाथ पर रख दिया। फिर उसे अपने साथ ला सकने में असमर्थ लौट आया।

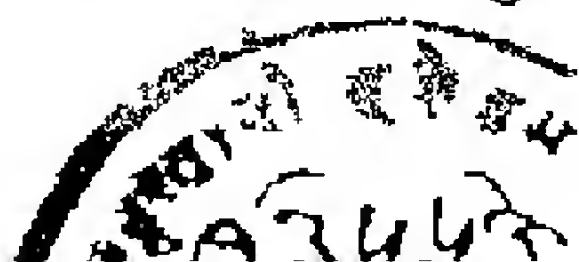
अगले दिन जब मैं कुछ कपड़े और दूसरा सामान लेकर वहाँ पहुँचा तो देखा—कैप के आगे सड़क पर कपड़ा बिछाए मेरा मित्र बैठा है। उसके आगे केले के गुच्छे, मूँगफली और मीठी गोली के डिब्बे रखे हैं .

मैं एक साथ करुणा और प्रशंसा से भर आया। मैंने उसके अदम्य उत्साह की मन ही मन प्रशंसा की और पूछा, “पिताजी कहाँ हैं?”

उसने जवाब दिया—“डाक्टर उन्हें अस्पताल ले गए हैं। उन्होंने विश्वास दिलाया है कि वे उनके दुःख दूर करने की पूरी कोशिश करेंगे। परंतु उनके दुःख तो अब उनके प्राणों के साथ ही दूर होंगे।”

मैंने एकाएक कुछ जवाब नहीं दिया। चुपचाप ग्राहकों को देखने लगा। सच तो यह है कि मुझे वार्तालाप का कोई ठीक-ठीक सूत्र नहीं मिल रहा था। इसी लिए मैंने कल वाली प्रार्थना फिर दोहरा दी, “आप लोग मेरे घर चलकर रहे तो ।”

उसने मेरी आँखों में झाँका। फिर अद्भुत शांत स्वर में कहा—“तुम्हारे घर को देखकर मुझे अपने घर की याद आएगी। मेरे दोस्त, तब क्या मैं अपने लड़खड़ाते हुए पैरों पर खड़ा रह सकूँगा ?”



मैं जिंदा रहूंगा

दावत कभी की समाप्त हो चुकी थी, मेहमान चले गए थे और चाद निकल आया था। प्राण ने मुक्त हास्य बिखेरते हुए राज की ओर देखा। उसको प्रसन्न करने के लिए वह इसी प्रकार के प्रयत्न किया करता था। उसके लिए वह मसूरी आया था। राज की दृष्टि तब दूर पहाड़ों के बीच नीचे जाने वाले मार्ग पर अटकी थी। हलकी चांदनी में वह धुधला बल खाता मार्ग अतीत की धुंधली रेखाओं को और भी धुधला कर रहा था। सच तो यह है कि तब वह भूत और भविष्य में उलझी अपने में खोई हुई थी। प्राण के मुक्त हास्य से वह कुछ चौंकी। दृष्टि उठाई, न जाने उसमें क्या था, प्राण कांप उठा, बोला, “तुम्हारी तबीयत तो ठीक है?”

राज ने उस प्रश्न को अनसुना करके धीरे से कहा, “आपके दाहिनी ओर जो युवक बैठा था, उसको आप अच्छी तरह जानते हैं?”

“किसको? वह जो नीला कोट पहने था?”

“हां, वही।”

“वह किशन के पास ठहरा हुआ है। किशन की पत्नी नीचे गई थी, इसी लिए मैंने उसे भी यहां आने को कह दिया था। क्यों, तुम उसे जानती हो?”

“नहीं, नहीं, मैं वैसे ही पूछ रही थी।”

“मैं समझ गया। वह दिलीप को बहुत प्यार कर रहा था। कुछ लोग बच्चों से बहुत प्रेम करते हैं।”

“हां, पर उसका प्रेम ‘बहुत’ से कुछ अधिक था।”

“क्या मतलब?”

“तुमने तो देखा ही था, दिलीप उनकी गोद में से उतरना नहीं चाहता था।”

प्राण ने हँसते हुए कहा, “बच्चा सबसे अधिक प्यार को पहचानता है। उसका हृदय शरत् की चांदनी से भी निर्मल होता है।”

तभी दोनों की दृष्टि सहसा दिलीप की ओर उठ गई। वह पास ही पलंग पर मखमली लिहाफ ओढ़े सोया था। उसके सुनहरे घुंघराले बालों की एक लट मस्तक पर आ गई थी। गौर वर्ण पर उसकी सुनहरी छाया चंद्रमा के प्रकाश के समान बड़ी मधुर लग रही थी। बच्चा सहसा मुसकराया। राज फुसफुसाई, “कितना प्यारा है!”

प्राण बोला, “ऐसा जान पड़ता है कि शैशव को देखकर ही किसी ने प्यार का आविष्कार किया था।”

दोनों की दृष्टि मिली। दोनों समझ गए कि इन निदोष उक्तियों के पीछे कोई तूफान उठ रहा है। पर बोला कोई कुछ नहीं। राज ने दिलीप को प्यार में उठाया और अंदर कमरे में ले जाकर लिटा दिया। मार्ग में जब वह कंधे से चिपका हुआ था तब राज ने उसे तनिक भींच लिया। वह कुनमुनाया पर पलग पर लेटते ही शांत हो गया। वह तब कई क्षण खड़ी-खड़ी उसे देखती रही। लगा, जैसे आज से पहले उसने बच्चों को कभी नहीं देखा, पर शीघ्र ही उसका आनंद भंग हो गया। प्राण ने आकर कहा “अरे! ऐसे क्या देख रही हो, राज?”

“कुछ नहीं।”

वह हँसा, “जान पड़ता है, प्यार में भी छूत होती है।”

राज ने वहाँ से हटते हुए धीरे से कहा, “सुनिए, अपने उन मित्र के मित्र को अब यहाँ कभी न बुलाइए।”

इन शब्दों में प्रार्थना नहीं थी, भय था। प्राण की समझ में नहीं आया। चकित सा बोला, “क्या मतलब?”

राज ने कुछ जवाब नहीं दिया। वह चुपचाप बाहर चली गई और अपने स्थान पर बैठकर, पहले की भांति उस बलखाते हुए मार्ग को देखने लगी। नीचे कुलियों का स्वर बद हो गया। ऊपर बादलों ने सब कुछ अपनी छाया में समेट लिया था। चंद्रमा का प्रकाश भी उसमें इस तरह घुल-मिल गया था कि उनकी भिन्नता रहस्यमय हो उठी थी। राज को लगा, बादलों की वह धुंध उसके अंदर भी प्रवेश कर चुकी है और उसकी शांति को लील गई है। सहसा उसकी आंखें भर आई और वह एक झटके के साथ कुर्सी पर लुढ़ककर फूट-फूटकर रोने लगी। प्राण सब कुछ देख रहा था। वह न सकपकाया, न क्रुद्ध हुआ। उसी तरह खड़ा हुआ उस फूटते आवेग को देखता रहा। जब राज के उठते हुए निःश्वास कम हुए और उसने उठकर आखे पोंछ डाली, तब उसने कहा, “दिल का बोझ उतर गया? आओ तनिक घूम आएं।”

राज ने भीगी दृष्टि से उसे देखा। एक क्षण ऐसी ही देखती रही। फिर बोली, “प्राण, मैं जाना चाहती हूँ।”

“कहाँ?”

“कहीं भी।”

प्राण बोला, “दुनिया को जानती हो? क्षण-भर पहले यहाँ सब कुछ स्पष्ट था पर अब नहीं है। सब कुछ बादलों की धुंध में खो गया है।”

“मैं भी इस धुंध में खो जाना चाहती हूँ।”

प्राण ने दोनों हाथ हवा में हिलाए और गंभीर होकर कहा, “तुम्हारी इच्छा! तुम्हें किसी ने बाधा नहीं है, जा सकती हो।”

राज उठी नहीं। उसी तरह बैठी रही और सोचती रही। रात आकर चली गई उसका सोचना कम नहीं हुआ, बल्कि और भी गहरा हो उठा। उसने दिन-भर दिलीप

को अपने म अलग नहीं किया। स्वयं ले जाकर माल पर झूलें में झूला लाई। स्वयं घुमाने ले गई और फिर खिलना-पिलाकर सुलाया भी स्वयं। बहुत देर तक लोरी सुनाई थपथपाया, सहलाया। वह सो गया, नां रोई और रोते-रोते बाहर बरामदे में जाकर अपने स्थान पर बैठ गई। वही चंद्रमा का धुंधला प्रकाश, वही बादलों की धुंध, वही प्रकृति की भाति ऊपर अपूर्व शांति और अंदर तूफान का गरज। प्राण ने आज रात को कुछ भी न कहने का प्रण कर लिया था। वह उसकी किसी इच्छा में बाधा नहीं बना। अब भी जब राज दृष्टि गड़ाए उस बलखाते मार्ग को ढूढ़ने की विफल चेष्टा कर रही थी वह कुर्सी की पीठ पर हाथ रखे हुए खड़ा था। तभी लगा, कोई जीने में आ रहा है। राज एकाएक बोल उठी, “वे आ गए।”

“कौन?”

“आपके मित्र के मित्र .”

वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि वे मित्र बरामदे में आते हुए दिखाई दिए। प्राण ने देखा—वे अकेले नहीं हैं, उनके साथ एक पुरुष तथा एक नारी भी हैं। दोनों सभ्य लगते हैं। नारी विशेष सुंदर है, पर इस समय वे अनिश्चय गंभीर हैं। उनकी आंखें बताती हैं कि वे व्यग्र भी हैं। प्राण उन्हें देखकर कांपा तो, पर आगे बढ़कर उसने उनका स्वागत किया। मुसकराकर बोला, “आइए, आइए, नमस्ते! किशोर नहीं आए?”

“जी, किशोर नहीं आ सके।”

“बैठिए, आइए। आप इधर आइए।”

बैठ चुके तो प्राण ने अपरिचितों की ओर देखकर पूछा, “आपका परिचय।”

“यह मेरी बहन है और यह वहनोई।”

ओह। प्राण मुसकराया, हाथ जोड़े, दृष्टि मिली, जैसे कुछ हिला हो। फिर भी सभलकर बोला, “आप आजकल कहां रहते हैं?”

मित्र ने दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, “कहा रहते। विधाता ने ऐसा उखाड़ा है कि कहीं जमते नहीं बनता।”

प्राण बोला, “हां भाई। वह तो जैसा हुआ, सभी जानते हैं, पर उसकी चर्चा किससे करें।”

और फिर मुड़कर राज से, जो ब्रुत बनी बैठी थी, कहा, “अरे भाई, चाय-वाय तो देखो।”

मित्र एकदम बोले, “नहीं, नहीं, चाय के लिए कष्ट न करें। ये तो एक बहुत आवश्यक काम से आए हैं।”

प्राण बोला, “कहिए।”

मित्र कुछ झिझके। प्राण ने कहा, “शायद एकांत चाहिए।”

“जी।”

“आइए उथर बैठेंगे।”

वह उठा और काने में पड़ी हुई एक कुर्सी पर जा बैठा। मित्र भी पास की दूसरी कुर्सी पर बैठ गए। एक क्षण रुककर बोले, “क्षमा कीजिए, आप से एक प्रश्न पूछता चाहता हूँ, है तो वह बेहूदा ही।”

“कोई बात नहीं,” प्राण मुसकराया, “प्रश्न पूछना कभी बेहूदा नहीं होता।”

मित्र ने एकदम सकपकाकर पूछा, “दिलीप आपका लड़का है?”

प्राण का हृदय धक्-धक् कर उठा। ओह, यह बात थी। उसने अपने को संभाला और निश्चित स्वर में कहा, “जी हाँ। आज तो वह मेरा ही है।”

“आज तो?”

“जी हाँ, वह सदा मेरा नहीं था।”

“सच?”

“जी हाँ, काफिले के साथ लौटते हुए राज ने उसे पाया था।”

“क्या?” मित्र हर्ष और अचरज से कांप उठे, “कहा पाया था?”

“लाहौर के पास एक ट्रेन में।”

“प्राण बाबू, प्राण बाबू! आप नहीं जानते, यह बच्चा मेरी बहन का है। मैं उसे देखते ही पहचान गया था। ओह, प्राण बाबू! आप नहीं जानते, उनकी क्या हालत हुई।” और उछलकर उसने पुकारा, “भाई साब! रमेश मिल गया।”

और फिर प्राण को देखकर कहा, “आप प्रमाण चाहते हैं? मेरे पास उसके फोटो हैं। यह देखिए।”

और उसने जेब से फोटो पर फोटो निकालकर सकपकाए हुए प्राण को चकित कर दिया। क्षण-भर में वहाँ का दृश्य पलट गया, रमेश के माता-पिता पागल हो उठे। मा ने तडपकर कहा, “कहा है? रमेश कहाँ है?”

राज ने कुछ नहीं देखा, वह शीघ्रता से अंदर गई और दिलीप को छाती से चिपकाकर फफक उठी। दूसरे ही क्षण वे सब उसके चारों ओर इकट्ठे हो गए। वे सब उद्विग्न थे, पर प्राण अब भी शांत था। उसने धीरे से कहा, “राज, दिलीप की माँ आ गई है।”

“उसकी माँ!” राज ने फफकते हुए कहा, “तुम सब चले जाओ। तुम यहाँ क्यों आए? दिलीप मेरा है। मैं उसकी माँ हूँ।”

दिलीप (रमेश) की माँ रोती हुई बोली, “सचमुच! मा तुम्हीं हो। तुमने उसे पुनर्जन्म दिया है।”

सुनकर राज काप उठी। उसने दृष्टि उठाकर पहली बार उस माँ को देखा और देखती रह गई। तब तक दिलीप जाग चुका था और उस चिल्ल-पो में घबराकर, किसी भी शर्त पर राज की गोद से उतरने को तैयार नहीं था। वह नवजातुको को देखता और चीख पड़ता।

साल-भर पहले जब राज ने उसे पाया था, तब वह पूरे वर्ष का भी नहीं था। उस

समय जब लोग प्राणों के भय से भाग रहे थे। मनुष्य मनुष्य का रक्त उलीचने में होड ले रहा था। नारी का सम्मान और शिशु का शैशव सब पराभूत हो चुके थे। मनुष्य का मनुष्यत्व ही नष्ट हो चुका था। भागते मनुष्यों पर राह के मनुष्य टूट पड़ते और लाशों के ढेर लगा देते, रक्त बहता और उसके साथ ही बह जाती मानवता। ऐसी ही एक ट्रेन में राज भी थी। हमला होने पर जब वह संज्ञाहीन-सी अज्ञात दिशा की ओर भागी, तो एक बर्थ के नीचे से अपने सामान के भुलावे में वह जो कुछ उठाकर ले गई, वही बाद में दिलीप बन गया। यह एक अद्भुत बात थी। अपनी अंतिम संपत्ति खोकर उसने एक शिशु को पाया, जो उस रक्त-वर्षा के बीच बेखबर सोया हुआ था। उसने कप में आकर जब उस बालक को देखा तो अनायास ही उसके मुह से निकला, “मेरे पति और मेरे दोनों बच्चों को मुझसे छीनकर आपने यह कैसा दान दिया है, मेरे प्रभु।”

लेकिन तब अधिक सोचने का अवसर नहीं था। वह भारत की ओर दौड़ो। मार्ग में वे अवसर आए, जब उसे अपने और उस बच्चे के बीच किसी एक को चुनना था, पर हर बार वह प्राणों पर खेलकर उसे बचा लेने में सफल हुई। मौत भी जिस बालक को उससे छीनने में असफल रही, वही अब कुछ क्षणों में उससे अलग हो जाएगा, क्योंकि वह उसका नहीं था, क्योंकि वह उसकी मां नहीं थी, नहीं, नहीं, दिलीप उसका है!

और वह फफक-फफककर रोने लगी। प्राण ने और भी पास आकर धीरे से शांत स्वर में कहा, “राज! मां बनने से भी एक बड़ा सौभाग्य होता है और वह है किसी के मातृत्व की रक्षा।”

“नहीं, नहीं।” वह उसी तरह बोली, “मैं वह सौभाग्य नहीं चाहती।”

“सौभाग्य तुम्हारे न चाहने से वापस नहीं लौट सकता राज, पर हाँ! तुम चाहो तो सौभाग्य को दुर्भाग्य में पलट सकती हो।”

राज सहसा प्राण की ओर देखकर बोली, “तुम कहते हो, मैं इसे दे दूँ?”

“मैं कुछ नहीं कहता, वह उन्हीं का है। तुम उनका खोया लाल उन्हें सौंप रही हो, इस कर्तव्य में जो सुख है, उससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा? उस सौभाग्य को क्षणिक कायरता के वश होकर ठुकराओ नहीं, राज!” राज ने एक बार और प्राण की ओर देखा, फिर धीरे-धीरे अपने हाथ आगे बढ़ाए और दिलीप को उसकी मा की गोदी में दे दिया। उसके हाथ कांप रहे थे, होंठ कांप रहे थे। जैसे ही दिलीप को उसकी मा ने छाती से चिपकाया, राज ने रोते हुए चिल्लाकर कहा, “जाओ! तुम सब चले जाओ, अभी! इसी वक्त!”

प्राण ने कोई प्रतिवाद नहीं किया, बल्कि जीने तक उनको छोड़ने आया। उन लोगों ने बहुत कुछ कहना चाहा, पर उसने कुछ नहीं सुना। बोला, “मुझे विश्वास है, बच्चा आपका है। वह आपको मिल गया। आपका-सा सौभाग्य सबको प्राप्त हो, लेकिन मेरी एक प्रार्थना है।”

“जी कहिए, हमे आपकी हर बात स्वीकार है।”

प्राण ने बिना सुने कहा, “कृपा कर अब आप लोग इधर न आए।”

वे चौंके “क्या?”

“जी, आपकी बड़ी कृपा होगी।”

“पर सुनिए तो. ”

प्राण ने कुछ न सुना और अगले दिन मसूरी को प्रणाम करके आगे बढ़ गया। राज की अवस्था मुरदे जैसी थी। वह पीली पड़ गई थी। उसके नेत्र सूज गए थे। प्राण ने उस क्षण के बाद फिर एक शब्द भी ऐसा नहीं कहा, जो उसे दिलीप की याद दिला सके, लेकिन याद क्या दिलाने से आती है। वह तो अतर मे सोते की भांति उफनती है, राज के अतर मे भी उफनती रही। उसी उफान को शांत करने के लिए प्राण मसूरी से लग्ननऊ आया। वहां से कलकत्ता और फिर मद्रास होता हुआ दिल्ली लौट आया। दिन बीत गए। महीने भी आए और चले गए। समय की महायत्ता पाकर राज दिलीप का भूलने लगी। प्राण ने फिर व्यापार मे ध्यान लगाया, पर साथ ही उसके मन मे एक आकांक्षा बनी रही। वह राज को फिर शिशु की अठखेलियों मे खोया देखना चाहता था। वह कई बार अनाथालय और शिशु-गृह गया, पर किसी बच्चे को घर न ला सका। जैसे ही वह आगे बढ़ता, कोई अदर से बोल उठता, “न जाने कौन कब आकर इसका भी मां-बाप होने का दावा कर बैठे।”

और वह लौट आया। इसके अलावा बच्चे की चर्चा चलने पर राज को दुःख होता था। कभी-कभी तो दौरा भी पड़ जाता था। वह अब एकांतप्रिय, सुस्त और अतर्मुखी हो चली थी। प्राण जानता था कि यह प्रभाव अस्थायी है, अंतर का आवेग इस आवरण को बहुत शीघ्र उतार फेंकेगा। नारी की जड़ें जहां हैं, उसके विपरीत फल कहा प्रकट हो सकता है। वह एक दिन किसी बच्चे को घर ले आएगा और कौन जानता है, तब तक.

वह इसी उधेड़बुन में था कि एक दिन उसने होटल से लौटते हुए देखा कि एक व्यक्ति उन्हें घूर-घूरकर देख रहा है। उसने कुछ विशेष ध्यान नहीं दिया। लोग देखा ही करते हैं। आज के युग का यह फैशन है। उसके पड़ोस में एक सज्जन रहते हैं। जब-तब अवसर पाकर छत की दीवार से झाँककर राज को देखा करते हैं। राज ने कई बार उनकी इस हरकत की शिकायत भी की थी। लेकिन अगले दिन, फिर तीसरे दिन चौथे दिन यहां तक कि प्रतिदिन वही व्यक्ति उसी तरह उनका पीछा करने लगा। अब प्राण को यह बुरा लगा। उसने समझा, इसमें कोई रहस्य है, क्योंकि वह व्यक्ति राज के सामने कभी नहीं पड़ता था और न राज ने अब तक उसे देखा था। कम से कम वह इस बात को नहीं जानता था। यही सब कुछ सोचकर प्राण ने उस व्यक्ति से मिलना चाहा। एक दिन वह वही होटल आया और उसने उस व्यक्ति को पूर्वत अपने

एकदम काप उठा, बोला, "क्या है?"

प्राण ने शांत भाव से कहा, "यही तो मैं आपसे पूछने आया हूँ।"

अचरज से वह व्यक्ति जिस तरह कापा, उसी तरह एकदम दूढ़ होकर बोला, "तो आप समझ गए? क्षमा करिए, मैं स्वयं आपसे बात करने वाला था।"

"अब तक क्यों नहीं कर सके?"

उसने उसी तरह कहा, "क्योंकि मैं पूर्ण विश्वस्त नहीं था और आप जानते हैं, आज के युग में ऐसी-वैसी बातें करना मौत को बुलाना है।"

प्राण उसकी वाणी से आश्चर्य तो हुआ, पर उसका हृदय धक्-धक् कर उठा। उसने कहा, "आप ठीक कहते हैं, पर अब आप निस्संकोच होकर जो चाहें, कह सकते हैं।"

वह बोला, "बात ऐसी ही है। आप बुरा न मानिए।"

"आप कहिए।"

वह तनिक झिझका, फिर शीघ्रता से बोला, "आपके साथ जो नारी रहती है, वह आपकी कौन है?"

"आपका मतलब?"

"जी."

प्राण सभला, बोला, "वह मेरी सब कुछ है और कुछ भी नहीं है।"

"जी, मैं पूछता था, क्या वह आपकी पत्नी है?"

"मेरी पत्नी..."

"जी।"

"नहीं।"

"नहीं?"

"जी हां।"

"आप सच कह रहे हैं?" उसकी वाणी में अचरज ही नहीं, हर्ष भी था।

"जी हां। मैं सच कहता हूँ। अग्नि को साक्षी करके मैंने कभी उससे विवाह नहीं किया।"

"फिर?"

"लाहौर से जब भागा था, तब मार्ग में एक शिशु के साथ उसे मैंने संज्ञाहीन अवस्था में एक खेत में पाया था।"

"तब आप उसे अपने साथ ले आए?"

"जी हां।"

"फिर क्या हुआ?"

"होता क्या? तब से वह मेरे साथ है।"

"लोग उसे आपकी पत्नी समझते हैं।"

“यह तो स्वाभाविक है। पुरुष के साथ इस तरह जो नारी रहती है, वह पत्नी ही होगी, इससे आगे आज का आदमी क्या सोच सकता है? पर आप ये सब बातें क्यों पूछते हैं? क्या आप उसे जानते हैं?”

“जी,” यह कांपा, बोला, “वह वह मेरी पत्नी है।”

“आपकी पत्नी?” प्राण सिंह उठा।

“जी।”

“और आप उसे चोरी की भाँति ताका करते हैं?”

अब उसका मुँह पीला पड़ गया और नेत्र झुक गए। पर दूसरे ही क्षण न जाने क्या हुआ, उसने एक झटके के साथ गरदन ऊंची की, बोला, “उसका एक कारण है मैं छिपाऊँगा नहीं। उन मुसीबत के क्षणों में मैं उसकी रक्षा नहीं कर सका था।”

प्राण न जाने क्यों हँस पड़ा, “छोड़कर भाग गए थे। अक्सर ऐसा हुआ है।”

“भागा तो नहीं था, पर प्राणों पर खेलकर उस तक आ नहीं सका।”

“वह जानती है?”

“नहीं कह सकता।”

“आपको भय है कि वह जानती होगी?”

“भय तो नहीं, पर ग्लानि अवश्य है।”

प्राण के भीतर के मन को जैसे कोई धीरे-धीरे छुरी से चीरने लगा हो, पर ऊपर से वह उसी तरह शांत स्वर में बोला, “तो राज आपकी पत्नी है, सच?”

उस व्यक्ति ने रुंधे कंठ से कहा, “कैसे कहूँ? मैंने उसको ढूँढ़ने के लिए क्या नहीं किया? सभी कैंपो में, रेडियो स्टेशन पर, पुलिस में—सभी जगह उसकी रिपोर्ट मौजूद है।”

प्राण बोला, “आप उसे ले जाने को तैयार हैं?”

वह झिझका नहीं, कहा, “जी, इसीलिए तो रुका हूँ।”

“आपको किसी प्रकार का संकोच नहीं?”

“संकोच।” उसने कहा, “संकोच करके मैं अपने पापों को और नहीं बढ़ाना चाहता। महात्माजी..”

“तो फिर आइए।” प्राण ने शीघ्रता से उसकी बात काटते हुए कहा, “मेरे साथ चलिए।”

“अभी?”

“इसी वक्त। आप कहाँ रहते हैं?”

“जालंधर।”

“काम करते हैं?”

“जी हाँ, मुझे स्कूल में नौकरी मिल गई है?”

“आपके बच्चे तो दोनों मारे गए थे?”

“जी, एक बच गया था।”

“सच?”

“जी, वह मेरे पास है।”

“प्राण का मन अचानक हप में खिल उठा। शीघ्रता से बोला, “तो सुनिए, राज घर पर है। आप उसे अपने साथ ले जाइए। मैं पत्र लिखे देता हूँ।”

“आप नहीं चलेंगे?”

“जी नहीं। मैं बाहर जा रहा हूँ। लखनऊ में एक आवश्यक कार्य है। तीन चार दिन में लौटूंगा, आप उसे ले जाइएगा। कहना, उसका पुत्र जीवित है। मुझे देखकर वह दुखी होगी। समझे न।”

“समझ गया।”

“आप भाग्यवान हैं, मैं आपको बधाई देता हूँ और आपके साहस की प्रशंसा करता हूँ।”

वह व्यक्ति कृतज्ञ, अनुगृहीत कुछ जवाब दे कि प्राण ने एक पत्र उसके हाथ में थमाया और बिजली की भांति गायब हो गया।

पत्र में लिखा था—

“राज।

बहादुर लोग गलती कर सकते हैं, पर धोखा देना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। फिर भी दो शब्द मुझे तुम्हारे पास लाने को पर्याप्त है। प्रयत्न करना उनकी आवश्यकता न पड़े। मुझे जानती हो मरने तक जीता रहूंगा।

— प्राण”

यह व्यक्ति ठगा-सा बहुत देर तक वहीं खड़ा रहा। कंगाल की फटी झोली में कोई रत्न डाल गया हो ऐसी उसकी हालत थी। पर जन्म से तो वह कंगाल नहीं था, इसलिए साहस ने उसे धोखा नहीं दिया और वह प्राण के बताए मार्ग पर चल पड़ा।

पूरे पंद्रह दिन बाद प्राण लौटा। जब तक उसने द्वार को नहीं देखा, उसके प्राण सकंठ में आए रहे। जब देखा कि द्वार बंद है और उसका चिर-परिचित ताला लगा है तो उसके प्राण तेजी से कांपे। किवाड़ खोलकर वह ऊपर चढ़ता ही चला गया। आगे कुछ नहीं देखा, देख ही नहीं सका। पालना पड़ा था, उससे ठोकर लगी और वह पलंग की पट्टी से जा टकराया। मुख से एक आह निकली। माथे में दर्द का अनुभव हुआ। खून निकल आया था। उसने हाथ से चोट को सहलाया। आंखों ने तभी खून देखा, फिर पालना देखा, फिर घर देखा। सब कहीं मौन का राज्य था। प्रत्येक वस्तु पूर्वतः अपने स्थान पर सुरक्षित थी। प्राण के मन में उठा, पुकारे—‘राज।’

पर वह कांपा- राज कहाँ है? राज तो चली गई। राज का पति आया था। राज का पुत्र जीवित है। सुख भी कैसा छल करता है। जा-जाकर लोट आता है। राज का

पात मिला पुत्र मिला दिलाप का मा बाप मिल आर मुझ मुझे क्या मिला

उसन गरदन को जोग से अटका दिया फुसफसाया ओह म कायर हा चला मुझ तो वह मिला, जो किसी का नहीं मिला।

तभी सहसा पास की छत पर खटखट हुई। राज को घूरने वाले पड़ोसी ने उधर झाँका। प्राण को देखा, तो गभीर होकर बोला, "आप आ गए?"

"जी हा।"

"कहा चले गए थे?"

"लखनऊ।"

"बहुत आवश्यक कार्य था क्या? आपके पीछे तो मुझे खेद है "

"जी, क्या?"

"आपकी पत्नी "

"मेरी पत्नी?"

"जी, मुझे डर है कि वह किसी के साथ चली गई।"

"चली गई? सच। आपने देखा था?"

"प्राण बाबू। मैं तो पहले ही जानता था। उसका व्यवहार ऐसा ही था। कोई पंद्रह दिन हुए आपके पीछे एक व्यक्ति आया था। पहले तो देखते ही आपकी पत्नी ने उसे डाँटा।"

"आपने सुना?"

"जी हा, मैं यहीं था। शोर सुनकर देखा, वह क्रुद्ध होकर चिल्ला रही है— "जाओ, चले जाओ। तुम्हें किसने बुलाया था? तुम क्यों आए? मैं उन्हें पुकारती हूँ?"

"सच, ऐसा कहा?"

"जी हा।"

"फिर?"

"फिर क्या, प्राण बाबू। वे बाबू साहब बड़े ढीठ निकले, गए नहीं। एक पत्र आपकी पत्नी को दिया, फिर हाथ जोड़े। फिर पैरों में पड़ गए।"

"क्या यह सब आपने देखा था?"

"जी हा, बिलकुल देखा था।"

"फिर?"

"फिर वे पैरों में पड़ गए, पर आपकी पत्नी रोती रही। तभी अचानक उसने न जाने क्या कहा। वह कांपकर वहीं गिर पड़ी। फिर तो उसने, क्या कहूँ, लाज लगती है। जी में तो आया कि कूदकर उसका गला घोंट दूँ, पर मैं रुक गया। दूसरे का मामला है। आप आते ही होंगे, रात तक राह देखी, पर आप नहीं आए। सवेरे उठकर देखा, तो वे दोनों लापता थे।"

“उसी रात चले गए?”

“जी हाँ।”

प्राण ने सांस खींची, “तो वे सच्चे थे, बिलकुल सच्चे।”

पड़ोसी ने कहा, “क्या?”

“जी हाँ, उन्होंने वही किया, जो उन्हें करना चाहिए था।” और फिर अचरज से बुत बने पड़ोसी की ओर देखकर बोला, “वे भाई राज के पति थे।”

“राज के पति?” चकित पड़ोसी और भी अचकचाया।

“जी हाँ, पंजाब से भागते हुए हम लोगो के साथ जो कुछ हुआ, वह तो आप जानते ही हैं। राज को भी मैंने लाशो की ढेर में से उठाया था। वह तब जानती थी कि उसके पति मर गए हैं, इसीलिए वह मेरे साथ रहने लगी।”

पड़ोसी अभी तक अचकचा रहा था, बोला, “आपके साथ रहने पर भी उन्हें राज को ले जाने में संकोच नहीं हुआ?”

प्राण ने कहा, “सो तो आपने देखा ही था।”

वह क्या कहे, फिर भी ठगा-सा बोला, “आपका अपना परिवार कहा है?”

“भागते हुए मेरी पत्नी और माँ-बाप दरिया में बह गए थे। बच्चे एक-एक करके रास्ते में सो गए।”

“भाई साहब!” पड़ोसी जैसे चीख पड़ेगा, पर वह बोल भी न सका। मुँह उसका खुला-का-खुला रह गया और दृष्टि स्थिर हो गई।

मेरा वतन

उसने सदा की भाँति तहमत लगा लिया था और फैज ओढ़ ली थी। उसका मन कभी-कभी साइकिल के ब्रेक की तरह तंजी से झटका देता था, परंतु पैर यंत्रवत् आगे बढ़ते चले जाते थे। यद्यपि इस शक्ति-प्रयोग के कारण वह बेतरह कांप उठता था, पर उसकी गति पर अकुश नहीं लगता था। देखने वालों के लिए वह एक अर्ध-विक्षिप्त से अधिक समझदार नहीं था। वे अक्सर उसका मजाक उड़ाना चाहते थे। वे कहकहे लगाते और ऊँचे स्वर में गालियाँ पुकारते, पर जैसे ही उनकी दृष्टि उठती—न जाने उन निरीह, भावहीन, फटी-फटी आँखों में क्या होता था—वे सहम जाते, सोडावाटर के तूफान की तरह उठने वाले कहकहे मर जाते और वह नजर दिल की अदरूनी बस्ती को शंखों की तरह सुलगाती हुई, फिर नीचे झुक जाती। वे फुसफुसाते, “जरूर इसका सब-कुछ लुट गया है ” “इसके रिश्तेदार मारे गए हैं..” “नहीं, नहीं, ऐसा लगता है कि काफ़िरों ने इसके बच्चों को इसी के सामने आग में भून दिया है या भालों की नोक पर टिकाकर तब तक घुमाया है जब तक उनकी चीख-पुकार बिल्ली की मिमियाहट से चिड़िया के बच्चे की ची-ची में पलटती हुई खत्म नहीं हो गई है ”

“और यह सब देखता रहा है।”

“हां, यह देखता रहा है। वही खौफ इसकी आँखों में उतर आया है। उसी खौफ ने इसके रोम-रोम को जकड़ लिया है। वह खौफ इसके लहू में इतना घुल-मिल गया है कि इसे देखकर डर लगता है।”

“डर,” किसी ने कहा था, “इसकी आँखों में मौत की तस्वीर है, वह मौत जो कत्ल, खूरेजी और फाँसी का निजाम सभालती है।”

एक बार एक राह चलते दर्दमंद ने एक दुकानदार से पूछा, “यह कौन है?” दुकानदार ने जवाब दिया, “मुसीबतजदा है, जनाब। अमृतमर में रहता था। काफ़िरो ने सब कुछ लूटकर इसके वीवी-बच्चों को आग में भून दिया।”

“जिंदा?” राहगीर के मुँह से अचानक निकल गया।

दुकानदार हँसा, “जनाब किस दुनिया में रहते हैं? वे दिन बीत गए जब आग काफ़िरो के मुरदों को जलाती थी। अब तो वह जिंदों को जलाती है।”

राहगीर ने तब कड़वी भाषा में काफ़िरो को वह सुनाई कि दुकानदार ने खुश होकर उसे बैठ जाने के लिए कहा। उसे जाने की जल्दी थी। फिर भी जरा-सा बैठकर उसने कहा, “कोई बड़ा आदमी जान पड़ता है।”

“उसी रात चले गए?”

“जी हा।”

प्राण ने सांस खींची, “तो वे सच्चे थे, बिल्कुल सच्चे।”

पड़ोसी ने कहा, “क्या?”

“जी हा, उन्होंने वही किया, जो उन्हें करना चाहिए था।” और फिर अचरज से बूत बने पड़ोसी की ओर देखकर बोला, “वे भाई राज के पति थे।”

“राज के पति?” चकित पड़ोसी और भी अचकचाया।

“जी हां, पंजाब से भागते हुए हम लोगों के साथ जो कुछ हुआ, वह तो आप जानते ही हैं। राज को भी मैंने लाशों की ढेर में से उठाया था। वह तब जानती थी कि उसके पति मर गए हैं, इसीलिए वह मेरे साथ रहने लगी।”

पड़ोसी अभी तक अचकचा रहा था, बोला, “आपके साथ रहने पर भी उन्हें राज को ले जाने में सकोच नहीं हुआ?”

प्राण ने कहा, “सो तो आपने देखा ही था।”

वह क्या कहे, फिर भी ठगा-सा बोला, “आपका अपना परिवार कहाँ है?”

“भागते हुए मेरी पत्नी और मां-बाप दरिया में बह गए थे। बच्चे एक-एक करके रास्ते में सो गए।”

“भाई साहब।” पड़ोसी जैसे चीख पड़ेगा, पर वह बोल भी न सका। मुंह उसका खुला-का-खुला रह गया और दृष्टि स्थिर हो गई।

मेरा वतन

उसने सदा की भाँति तहमत लगा लिया था और फैज ओढ़ ली थी। उसका मन कभी-कभी साइकिल के ब्रेक की तरह तजी से झटका देता था, परंतु पैर यत्रवत् आगे बढ़ते चले जाते थे। यद्यपि इस शक्ति-प्रयोग के कारण वह बेतरह काप उठता था, पर उसकी गति पर अकुश नहीं लगता था। देखने वालों के लिए वह एक अर्ध-विक्षिप्त से अधिक समझदार नहीं था। वे अक्सर उसका मजाक उड़ाना चाहते थे। वे कहकहे लगाते और ऊँचे स्वर में गालियाँ पुकारते, पर जैसे ही उसकी दृष्टि उठती— न जाने उन निरीह, भावहीन, फटी-फटी आँखों में क्या होता था— वे सहम जाते। सोडावाटर के तूफान की तरह उठने वाले कहकहे मर जाते और वह नजर दिल की अंदरूनी बस्ती को शोले की तरह सुलगाती हुई, फिर नीचे झुक जाती। वे फुसफुसाते, “जरूर इसका सब-कुछ लुट गया है।” “इसके रिश्तेदार मारे गए हैं।” “नहीं, नहीं, ऐसा लगता है कि काफ़िरो ने इसके बच्चों को इमी के सामने आग में भून दिया है या भालों की नोक पर टिकाकर तब तक घुमाया है जब तक उनकी चीख-पुकार बिल्ली की मिमियाहट से चिड़िया के बच्चे की चीं-ची में पलटती हुई खत्म नहीं हो गई है।”

“और यह सब देखता रहा है!”

“हां, यह देखता रहा है। वही खौफ इसकी आँखों में उतर आया है। उसी खौफ ने इसके रोम-रोम को जकड़ लिया है। वह खौफ इसके लहू में इतना घुल-मिल गया है कि इसे देखकर डर लगता है।”

“डर,” किसी ने कहा था, “इसकी आँखों में मौत की तसवीर है, वह मौत जो कत्ल, खूरेजी और फाँसी का निजाम सभालती है।”

एक बार एक राह चलते दर्दमंद ने एक दुकानदार से पूछा, “यह कौन है?” दुकानदार ने जवाब दिया, “मुसीबतजदा है, जनाब। अमृतसर में रहता था। काफ़िरो ने सब कुछ लूटकर इसके बीवी-बच्चों को आग में भून दिया।”

“जिंदा?” राहगीर के मुँह से अचानक निकल गया।

दुकानदार हँसा, “जनाब किस दुनिया में रहते हैं? वे दिन बीत गए जब आग काफ़िरो के मुरदों को जलाती थी। अब तो वह जिंदों को जलाती है।”

राहगीर ने तब कड़वी भाषा में काफ़िरो को वह सुनाई कि दुकानदार ने खुश होकर उसे बैठ जाने के लिए कहा। उसे जाने की जल्दी थी। फिर भी जरा-सा बैठकर उसने कहा, “कोई बड़ा आदमी जान पड़ता है।”

“जी हा वकील था, हाइकोर्ट का बड़ा वकील। लाखों रुपये की जायदाद छोड़ आया है।”

“अच्छा जी!”

“जनाब क्या पूछने हैं? आदमी आसानी से पागल नहीं होता। दिल पर चोट लगती है तभी वह टूटता है। पर जब एक बार टूट जाता है तो फिर नहीं जुड़ता। आजकल चारों तरफ यही कहानी है। मेरा घर का मकान नहीं था, लेकिन दुकान में सामान इतना था कि तीन मकान बन सकते थे।”

“जी हा,” राहगीर ने सदाय हाँकर कहा, “आप ठीक कहते हैं। पर आपके बाल-बच्चे तो ठीक आ गए हैं?”

“जी हा, खुदा का फजल है। मैंने उन्हें पहले ही भेज दिया था। जो पीछे रह गए थे, उनकी न पूछिए। रोना आता है। खुदा गारत करे हिंदुस्तान को. ”

राहगीर उठा। उसने बात काटकर इतना ही कहा, “देख लेना, एक दिन वह गारत होकर रहेगा। खुदा के घर में देर है, पर अंधेरे नहीं।”

और वह चला गया, परंतु उस अर्ध-विक्षिप्त व्यक्ति के क्रम में कोई अंतर नहीं पड़ा। वह उसी तरह धीरे-धीरे बाजारों में से गुजरता, शरणार्थियों की भीड़ में धक्के खाता, परंतु उस ओर देखता नहीं। उसकी दृष्टि तो आसपास की दुकानों और मकानों पर जा अटकती थी। अटकती ही नहीं, चिपक जाती थी। मिक्नातीस लोहे को खींच लेती हैं, वैसे ही वे बेजबा इमारतें, जो जगह-जगह पर खडहर की शक्ल में पलट चुकी थीं, उसकी नजर और नजर के साथ उसके मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सभी को अपनी ओर खींच लेती थीं और फिर उसे जो कुछ याद आता, वह उसे, पैर के तलुए से होकर मिर में निकल जाने वाली सूली की तरह काटता हुआ, उसके दिल के कोने में जा बैठता था। इसी कारण वह आज तक मर नहीं सका था, केवल सिसकिया भरता रहता था...वे सिसकिया जिनमें न शब्द थे, न आसू। वे सूखी हिचकियों की तरह उसे बेजान किए हुए थीं।

सहसा उसने देखा— सामने उसका अपना मकान आ गया है। उसके अपने दादा ने उसे बनाया था। उसके ऊपर के कमरे में उसके पिता का जन्म हुआ था। उसी कमरे में उसने आखे खोली थीं और उसी कमरे में उसके बच्चों ने पहली बार प्रकाश-किरण का स्पर्श पाया था। उस मकान के कण-कण में उसके जीवन का इतिहास अंकित था। उसे फिर बहुत-सी कहानियाँ याद आने लगीं। वह तब उन कहानियों में इतना डूब गया था कि उसे परिस्थिति का तनिक भी ध्यान नहीं रहा। वह जीने पर चढ़ने के लिए आगे बढ़ा और जैसा कि वह सदा करता था, उसने घंटी पर हाथ डाला। बेजान घंटी शोर मचाने लगी और तभी उसकी नींद टूट गई। उसने अपने चारों देखा। वहाँ सब एक ही तरह के आदमी नहीं थे। वे सब एक ही जवान नहीं बोलते थे। फिर भी उनमें ऐसा कुछ था जो उन्हें एक कर रहा था और वह इस एके में अपने लिए कोई जगह नहीं पाता

था उम्र नती स जाग बढ जाना चाहा, पर तभी ऊपर स एक व्यक्ति उतर आया। उसने ढीला पाजामा और कुर्ता पहना था, पूछा, “कहिए जनाब?”

वह अकचकाया, “जी।”

“जनाब किसे पूछते थे?”

“जी, मैं पूछता था कि मकान खाली है?”

ढीले पाजामे वाले व्यक्ति ने उसे ऐसे देखा कि जैसे वह कोई चोर या उठाईगिरा हो। फिर मुह बनाकर तलखी से जवाब दिया, “जनाब! तशरीफ ले जाइए करना।”

आगे उसने क्या कहा, वह यह सुनने के लिए नहीं रुका, बड़ा चला गया। उसकी गति में तूफान भर उठा, उसके मस्तिष्क में बवडर उठ खड़ा हुआ और उसका चितन गति की चट्टान पर टकराकर पाश-पाश हो गया। उसे जब होश आया तो वह अनाग्रकली से लेकर माल तक का समूचा बाजार लाघ चुका था। वह बहुत दूर निकल आया था।

यहा आकर वह कापा। एक टीस ने उसे कुरेद डाला, जैसे बढई ने पेच में पेचकस डालकर पूरी शक्ति के साथ उसे घुमाना शुरू कर दिया हो। हाईकोर्ट की शानदार इमागत उसके सामने थी। वह दृष्टि गड़ाकर उसके कंगूरों को देखने लगा। उसने बरामदे की कल्पना की। उसे याद आया—“वह कहां बैठता था, वह कौन में कपड़े पहनता था कि उसका हाथ सिर पर गया, जैसे उसने सांप को छुआ। उसने उसी क्षण हाथ खींच लिया, पर मोहक स्वप्नों ने उसकी रगीन दुनिया की रगीनी को उसी तरह बनाए रखा। वह तब इस दुनिया में इतना डूब चुका था कि बाहर की जो वास्तविक दुनिया है, वह उसके लिए भृगतृष्णा बन गई थी। उसने अपने पैरों के नीचे की धरती को ध्यान से देखा, देखता रहा। सिनेमा की तसवीरों की तरह अतीत की एक दुनिया, एक शानदार दुनिया उसके अंतस्तल पर उभर आई। वह इसी धरती पर चला करता था। उसके आगे-पीछे उसे नमस्कार करते, सलाम झुकाते, बहुत-से आदमी आते और जाते थे। दूसरे वकील हाथ मिलाकर शिष्टाचार प्रदर्शित करते और.

विचारों के हनुमान ने समुद्र पार करने के लिए छलांग लगाई उसका ध्यान जज के कमरे में जा पहुंचा। जब वह अपने केस में बहस शुरू करता था तो कमरे में सन्नाटा छा जाता था। केवल उसकी वाणी की प्रतिध्वनि गूजा करती थी, केवल ‘मी लार्ड’ शब्द बार-बार उठता और ‘मी लार्ड’ कलम रखकर उसकी बात सुनते

हनुमान फिर कूदे और वह अब बार एसोसिएशन के कमरे में आ गया था। इसमें न जाने कितने कहकहे उसने लगाए थे। कितनी बार राजनीति पर उत्तेजित कर देने वाली बहसों की थी। वहीं बैठकर उसने महापुरुषों को अनेक बार श्रद्धाजलियां भेंट की थी। विदा और स्वागत के खेल खेले थे।

वह अब उस कुर्सी के बारे में सोचने लगा, जिस पर वह बैठा करता था। तब उसे कमरे की दीवारों के साथ-साथ दरवाजे के पायदान की याद भी आ गई और वह

पायदान को देखने के लिए आनुर हो उठा। वह सब कुछ भूलकर सदा की तरह झूमता हुआ आगे बढ़ा, पर तभी जैसे किसी ने उमे कचोट लिया। उसने देखा कि लान की हरी घास मिट्टी में समा गई है। रास्ते बंद है, केवल डरावनी आंखों वाले मैनिंक मशीनगन सभाले, हेल्मेट पहने तैयार खड़े हैं कि कोई आगे बढ़े और वे शूट कर दें। उसने हरी वर्दी वाले होमगार्डों को भी देखा और देखा कि राइफल थामे पठान लोग जब मन में उठता है, फायर कर देते हैं। वे मानो छड़ी के स्थान पर राइफल का प्रयोग करते हैं और उनके लिए जीवन की पवित्रता बंदूक की गोली की सफलता पर निर्भर करती है। उसे स्वयं जीवन की पवित्रता से अधिक मोह नहीं था। वह खडहरो के लिए आसू भी नहीं बहाता था। उसने अग्नि की प्रज्वलित लपटों को अपनी आंखों से उठते देखा था। उसे तब खाडव वन की याद आ गई थी, जिसकी नींव पर इंद्रप्रस्थ सरीखे वैभवशाली और कलामय नगर का निर्माण हुआ था। तो क्या इस महानाश को नींव पर भी किसी गौरव-गरिमामय कलाकृति का निर्माण होगा? इंद्रप्रस्थ की उस कला के कारण महाभारत संभव हुआ, जिसने इस अभाग्य देश के मदोन्मत्त किंतु जर्जरित शौर्य को सदा के लिए समाप्त कर दिया। क्या आज फिर वही कहानी दोहराई जाने वाली है?

एक दिन उसने अपने बड़े बेटे से कहा था, “जिंदगी न जाने क्या-क्या खेल खेती है। वह तो बहुरूपिया है, पर दूसरी दुनिया बनाते हमें देर नहीं लगती। परमात्मा ने मिट्टी इसलिए बनाई है कि हम उसमें से सोना पैदा करें।”

बेटा बाप का सच्चा उत्तराधिकारी था। उसने परिवार को एक छोटे-से कस्बे में छोड़ा और आप आगे बढ़ गया। वह अपनी उजड़ी हुई दुनिया को फिर से बसा लेना चाहता था, पर तभी अचानक छोटे भाई का तार मिला। लिखा था, “पिताजी न जाने कहा चले गए।”

तार पढ़कर बड़ा भाई अचरज से कांप उठा। वह घर लौटा और पिता की खोज करने लगा। उसने मित्रों को लिखा, रेडियो पर समाचार भेजे, अखबारों में विज्ञापन निकलवाए। सब-कुछ किया, पर वह यह नहीं समझ सका कि आखिर वे कहा गए और क्यों गए? वह इसी उधेड़-बुन में था कि एक दिन सवेरे-सवेरे देखा—वे चले आ रहे हैं—शांत निर्द्वंद्व और निर्मुक्त।

“आप कहाँ चले गए थे?” प्रथम भावोद्रेक समाप्त होने पर पुत्र ने पूछा।

शांत मन से पिता ने उत्तर दिया, “लाहौर।”

“लाहौर?” पुत्र हठात् कांप उठा, “आप लाहौर गए थे?”

“हां।”

“कैसे?”

पिता बोले, “रेल में बैठकर गया था, रेल में बैठकर आया हूं।”

“पर आप वहाँ क्यों गए थे?”

“क्यो गया था?” जैसे उसकी नींद टूटी। उसने अपने-आपको संभालते हुए कहा, “वैसे ही, देखने के लिए चला गया था।”

और आगे की बहस से बचने के लिए वह उठकर चले गए। उसके बाद उन्होंने इस बारे में किसी भी प्रश्न का जवाब देने से इनकार कर दिया। उनके पुत्र ने इस परिवर्तन को देखा, पर न तो वे उन्हें समझा सकते थे, न उन पर क्रोध कर सकते थे, क्योंकि वे दुनिया के दूसरे काम सदा की भांति करते रहते थे। हां, पंजाब की बात चलती तो आह भरकर कह देते थे, “गया पंजाब। पंजाब अब कहां है?” पुत्र फिर काम पर लौट गए और वे भी घर की व्यवस्था करने लगे। इसी बीच में वे एक दिन फिर लाहौर चले गए, परंतु इससे पहले कि उनके पुत्र इस बात को जान सके, वे लौट भी आए। पत्नी ने पूछा, “आखिर क्या बात है?”

“कुछ नहीं।”

“कुछ नहीं कैसे? आखिर आप वहां क्यो जाते हैं?”

तब कई क्षण चुप रहने के बाद उन्होंने धीरे से कहा, “क्यो जाता हूँ, क्योंकि वह मेरा वतन है। मैं वहां पैदा हुआ हूँ। वहां की मिट्टी में मेरी जिंदगी का राज छिपा है। वहां की हवा में मेरे जीवन की कहानी लिखी हुई है।”

पत्नी की आंखें भर आई, बोली, “पर अब क्या, अब तो सब कुछ गया।”

“हां, सब कुछ गया।” उन्होंने कहा, “मैं जानता हूँ, अब कुछ नहीं हो सकता, पर न जाने क्या होता है। उसकी याद आते ही मैं अपने-आपको भूल जाता हूँ और मेरा वतन मिकनातीस की तरह मुझे अपनी ओर खींच लेता है।” उनकी आंखें भर आईं।

करुण स्वर में पत्नी ने कहा, “नहीं, नहीं, आपको अपने को संभालना चाहिए। जो कुछ चला गया उसका दुःख तो जिंदगी भर सालता रहेगा। भाग्य में वही लिखा था, पर अब जान-बूझकर आग में कूदने से क्या लाभ?”

“हां, अब तो जो कुछ बचा है उसी को सहेजकर गाड़ी खींचनी ठीक है।” उसने पत्नी से कहा और फिर जी-जान से नए कार्य-क्षेत्र में जुट गया। उसने फिर वकालत का चोंगा पहन लिया। उसका नाम फिर बार एसोसिएशन में गूँजने लगा। उसने अपनी जिंदगी को भूलने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। और शीघ्र ही वह अपने काम में इतना डूब गया कि देखने वाले दांतों के तले उंगली दबाकर कहने लगे, “इन लोगों में कितना जीवट है। सहस्रों वर्षों में अनेक पीढ़ियों ने अपने को खपाकर जिस दुनिया का निर्माण किया था, वह क्षण-भर में राख का ढेर हो गई, तो बिना आंसू बहाए उसी तरह की दुनिया, ये लोग क्षणों में ही बना देना चाहते हैं।”

उनका अचरज ठीक था। तबुओं और कैपों के आसपास, सड़को के किनारे राह से दूर, भूत-प्रेतों के चिर-परिचित अड्डों में, उजड़े गांवों में, खोले और खादर में, जहां भी मनुष्य की शक्ति कुठित हो चुकी थी, वही ये लोग पहुंच जाते थे। और पादरी

के नास्तिक मित्र की तरह नरक को स्वर्ग में बदल देते थे। उन लोगों ने जैसे कसम खाई थी कि धरती अनंत है, शक्ति असीम है, फिर निराशा कहा रह सकती है?

ठीक उसी समय जब उसका बड़ा पुत्र अपनी नई दुकान का मुहूर्त करने वाला था उसे एक बार फिर छोटे भाई का तार मिला, “पिताजी पांच दिन से लापता हैं।” पढ़कर वह क्रुद्ध हो उठा और तार के टुकड़े-टुकड़े करके उसने दूर फेंक दिए। और चिनचिनाया, “वे नहीं मानते तो उन्हें अपने किए का फल भोगना चाहिए। वे अवश्य लाहौर गए हैं।”

उसका अनुमान सच था। जिस समय वे इस प्रकार चिंतित हो रहे थे, उसी समय लाहौर के एक दुकानदार ने एक अर्ध-विक्षिप्त व्यक्ति को—जो तहमत लगाए, फैज कैप ओढ़े, फटी-फटी आंखों से चारों ओर देखता हुआ घूम रहा था—पुकारा, “शेख साहब। सुनिए तो। बहुत दिन मे दिखाई दिए, कहा चले गए थे?”

उस अर्ध-विक्षिप्त पुरुष ने थकी हुई आवाज में जवाब दिया, “मैं अमृतसर चला गया था।”

“क्या?” दुकानदार ने आंखें फाड़कर कहा, “अमृतसर?”

“हां, अमृतसर गया था। अमृतसर मेरा वतन है।”

दुकानदार की आंखें क्रोध से चमक उठी, बोला, “मैं जानता हूं। अमृतसर मे साढ़े तीन लाख मुसलमान रहते थे पर आज एक भी नहीं है।”

“हां,” उसने कहा, “वहां आज एक भी मुसलमान नहीं है।”

“काफिरों ने सबको भगा दिया, पर हमने भी कसर नहीं छोड़ी। आज लाहौर में एक भी हिंदू या सिख नहीं है और कभी होगा भी नहीं।”

वह हँसा, उसकी आंखें चमकने लगीं। उनमें एक ऐसा रंग भर उठा जो बेरंग था। और वह हँसता चला गया, हँसता चला गया, “वतन, धरती, मोहब्बत सब कितनी छोटी-छोटी बातें हैं! सबसे बड़ा मजहब है, दीन है, खुदा का दीन। जिस धरती पर खुदा का बंदा रहता है, जिस धरती पर खुदा का नाम लिया जाता है, वही मेरा वतन है, वही मेरी धरती है और वही मेरी मोहब्बत है।”

दुकानदार ने धीरे से अपने दूसरे साथी से कहा, “आदमी जब होश खो बैठता है, तो कितनी सच्ची बात कहता है।”

साथी ने जवाब दिया, “जनाब। तब उसकी जबान से खुदा बोलता है।”

“बेशक।” उसने कहा और मुड़कर उस अर्ध-विक्षिप्त से बोला, “शेख साहब। आपको घर मिला?”

“सब मेरे ही घर है।”

दुकानदार मुसकराया, “लेकिन, शेख साहब! जरा बैठिए तो, अमृतसर मे किसी ने आपको पहचाना नहीं?”

वह ठहाका मारकर हंसा, “तीन महीने जेल में रहकर लौटा हूं।”

हा हा ठसने आखें कहा

तुम जीवट के आदमी हा

और तब दुकानदार ने खुश होकर उसे रोटी और कबाब भगाकर दिया। लापरवाही से उन्हे पल्ले में बाधकर और एक टुकड़े को चबाता हुआ वह आगे बढ़ गया।

दुकानदार ने कहा, “अजीब आदमी है। किसी दिन लखपति था, आज फाकामस्त है।”

“खुदा अपने बंदों का खूब इम्तहान लेता है।”

“जन्नत ऐसो को ही मिलती है।”

“जी हा, हिम्मत भी खूब है। जान-बूझकर आग में जा कूदा।”

“वतन की याद ऐसी ही होती है।” उसके साथी ने, जो दिल्ली का रहने वाला था, कहा, “अब भी जब मुझे दिल्ली की याद आती है, तब दिल भर आता है।”

और वह आगे बढ़ रहा था। माल पर भीड़ बढ़ रही थी। कारे भी कम नहीं थी और अंग्रेज, एंग्लो-इंडियन तथा ईसाई नारिया पूर्ववत् बाजार कर रही थीं। फिर भी उसे लगा कि वह माल, जो उसने देखी थी, यह नहीं है। शरीर कुछ वैसा ही था, पर उसकी आत्मा झुलस चुकी है। लेकिन यह भी उसकी दृष्टि का दोष था। कम-से-कम वे जो वहाँ घूम रहे थे, उनका ध्यान आत्मा की ओर नहीं था।

एकाएक वह पीछे मुड़ा। उसे रास्ता पूछने की जरूरत नहीं थी। बैल की तरह उसके पैर डगर को पहचानते थे। आंखें इधर-उधर देख रही थी। पैर अपने रास्ते पर बिना डगमगाए बढ़ रहे थे। और विश्वविद्यालय की आलीशान इमारत एक बार फिर सामने आ रही थी। उसने नुमायश की ओर एक दृष्टि डाली, फिर बुलनर के बुत की तरफ से होकर वह अंदर चला गया। उसे किसी ने नहीं रोका और वह लॉ कालेज के सामने निकल आया। उस समय उसका दिल एक गहरी हूक से टीसने लगा था। कभी वह इस कालेज में पढ़ा करता था। वह कांपा, उसे याद आया, उसने इस कालेज में पढ़ाया भी है। वह फिर कांपा। हूक फिर उठी। उसकी आंखें भर आईं। उसने मुह फिरा लिया। उसके सामने वह रास्ता था जो उसे दयानंद कालेज ले जा सकता था। एक दिन पंजाब विश्वविद्यालय, दयानंद विश्वविद्यालय कहलाता था।

तब एक भीड़ उसके पास से निकल गई। वे प्रायः सभी शरणार्थी थे। बेघर और बेजर, लेकिन उन्हें देखकर उसका दिल पिघला नहीं, कड़वा हो उठा। उसने चिल्लाकर उन्हें गालियां देनी चाहीं। तभी पास से जाने वाले दो व्यक्ति उसे देखकर ठिठक गए। एक ने रुककर उसे ध्यान से देखा, दृष्टि मिली, वह सिहर उठा। सर्दी गहरी हो रही थी और कपड़े कम थे। वह तेजी से आगे बढ़ा। वह जल्दी से जल्दी कालेज कैम्प में पहुंच जाना चाहता था।

उन दो व्यक्तियों में से एक ने, जिसने उसे पहचाना था, दूसरे से कहा, “मैं इसको जानता हूँ।”

“कौन है?”

“हिंदू।”

साथी अचकचाया, “हिंदू?”

“हा, हिंदू। लाहौर का एक मशहूर वकील ” और कहते-कहते उसने ओवरकोट की जेब में से पिस्तौल निकाल ली। वह आगे बढ़ा, उसने कहा, “जरूर यह मुखबिरी करने आया है।”

उसके बाद एक गोली चली। एक हलचल, एक खटपट—सी मची। देखा—एक व्यक्ति चलता-चलता लड़खड़ाया और गिर पड़ा। पुलिस ने उसे देखकर भी अनदेखा कर दिया, परंतु जो अनेक व्यक्ति उस पर झुक आए थे, उनमें से एक ने उसे पहचाना और कापकर पुकारा, “मिस्टर पुरी! तुम! तुम यहां? ऐसे. ?”

मिस्टर पुरी ने आंखें खोलीं, उनका मुख श्वेत हो गया था और उस पर मौत की छाया पड़ रही थी। उन्होंने पुकारने वाले को देखा और धीरे से कहा, “हसन.. हसन ।”

आंखें फिर मिच गईं। हसन ने चिल्लाकर सैनिक से कहा, “जल्दी करो। टैक्सी लाओ। मेयो अस्पताल चलना है। अभी...”

भीड़ बढ़ती आ रही थी। फौज, पुलिस और होमगार्ड सबने उसे घेर लिया। हसन जो उसका साथी था, जिसके साथ वह पड़ा था, जिसके साथ उसने साथी और प्रतिद्वंद्वी बनकर अनेक मुकदमे लड़े थे, वह अब उसे अचरज से देख रहा था। उसने एक बार झुककर कहा, “तुम यहां इस तरह क्यों आए, मिस्टर पुरी?”

मिस्टर पुरी ने एक बार फिर आंखें खोलीं। वे धीमे स्वर में फुसफुसाए, “मैं यहां क्यों आया? मैं यहां से जा ही कहा सकता हूँ? यह मेरा वतन है, हसन। मेरा वतन..।”

स्यापा मुका

मैंने समाचार पढ़ लिया है और स्तब्ध रह गया हूँ। कई क्षण लगते हैं उस जड़ता की स्थिति से उबरने में। फिर पढ़ता हूँ उस समाचार को अविश्वास से, पर अदर तो अब तक सब कुछ टूट-बिखर गया है। किरच-किरच हो गया है मेरा संयम और किरच जैसे चुभती है

तभी सुमति उधर से गुजरती है। स्वभाव के अनुसार मुसकराकर मेरी ओर देखती है और काप उठती है, “क्या हुआ? क्या बात है?”

चुपचाप अखबार उसकी ओर बढ़ा देता हूँ। पढ़ते न पढ़ते एक दर्दनाक ‘हाय’ निकल जाती है उसके मुख से और चीर जाती है हम दोनों के अंतर को। बदहवास सुमति का क्षण-भर पहले का मुसकराता चेहरा राख हो जाता है और वह इतना ही कह पाती है, “हाय रब्बा, यह क्या हुआ?”

दैनिक ‘जनसत्ता’ के प्रथम पृष्ठ पर पंजाब के आतंकवादियों की गतिविधियों का विवरण दिया हुआ था। उसी के बीच में बॉक्स में एक विशेष सूचना थी, “परसो आतंकवादियों ने स्कूटर पर आते दो भाइयों में से एक की निर्मम हत्या कर दी। छोटा भाई जो स्कूटर चला रहा था, केशधारी सिख था। पीछे बैठा बड़ा भाई मोना हिंदू था। छोटे भाई मनजीतसिंह के बार-बार अनुनय-विनय करने पर भी जालिमों ने बड़े भाई डा. सर्वजीतसिंह को गोली मार दी और अपनी मोटर साइकिल पर भाग गए। डा. सिंह स्थानीय कालेज में पंजाबी भाषा के प्राध्यापक और प्रख्यात कथाशिल्पी थे। मनजीतसिंह दिल्ली में वकालत करते हैं।

गोली लगने पर सर्वजीत नीचे गिर पड़े पर तुरंत मृत्यु नहीं हुई। बदहवास मनजीत यह कहते हुए ‘भइया! मेरे आने तक जिंदा रहना’ डाक्टर को लेने दौड़ा। तभी हत्यारे फिर लौटे और सर्वजीत को जिंदा पाकर उन्हें फिर गोली मार दी। भाई के लौटने के पहले ही सर्वजीत ने दम तोड़ दिया..”

फिर तार देने और दिल्ली जाने के लिए प्रबंध करने में पूरा दिन बीत गया। सकंते की हालत में यंत्रवत सब कुछ चलता रहा। गाड़ी में भी एक भयानक जड़ता ने आवृत्त किए रखा सब कुछ को। बीच-बीच में पुरानी यादें दस्तक दे जातीं मन के द्वार पर, तब नाना रूप चित्र उभर-उभरकर छाती को बहुत गहरे, अदर तक चीर-चीर जाते .

पूरे पच्चीस साल पड़ोसी रहा हूँ उन लोगों का। एक ही मकान में ऊपर-नीचे

रहते प्रेम, विग्रह और सधि के न जाने कितने खेल खेले हमने। किसके पास है लेखा-जोखा उन सबका, पर एक बात हम सब निश्चित रूप से जानते थे कि हर खेल हमारे सबधों को और गहरा कर गया है।

गृहस्वामी सरदार देवेद्रसिंह को मेने नहीं देखा। सुना है उनके बारे में। बेहद ईमानदार, भले और परदुःखकातर व्यक्ति थे। दुनिया से जल्दी चले गए। भले मानुष जल्दी ही चले जाते हैं। सरदारनी अम्मा—हम उन्हें इसी नाम से पुकारते थे—सदा, जब कभी पुरानी यादों में खोई होती तो अंत में आखों में आंसू भरकर बोल उठती, “इक देवता धरती पर उतरा सी। छेती नाल टुर गया। देवता छेती ही टुर जाते हैं। उणादा असली घर तो ओही होंदा है।”

और वह देवता जब चला गया तो सरदारनी अम्मा रह गई थीं अपने पांच बच्चों के साथ—चार बेटे, एक बेटी। सबसे बड़ा सर्वजीत तेरह वर्ष का था और सबसे छोटा मनजीत तीन वर्ष का। पूजी के नाम पर बस, ईमानदारी और मेहनतकशी ही उन्हें विरासत में मिली थी। मैं साक्षी हूँ उस अनथक, अनवरत संघर्ष का जो सरदारनी अम्मा ने अपनी सतान को देश का सच्चा नागरिक बनाने के लिए किया था। दिन-भर कपड़े सी-सीकर घर चलाया उन्होंने और कभी किसी को किसी बात के लिए तरसने नहीं दिया।

सरदारनी अम्मा हिंदू परिवार में जन्मी थीं पर पति के घर में सिख परंपरा का एक समर्पिता की तरह पालन करती थीं। वह उनके रक्त में रच-बस गई थी—ऐसे ही जैसे फूल में सुगंध। उनके दो बेटे केशधारी थे, दो मोने; पर हर शुभ अवसर पर वे गुरु ग्रंथ साहब का पाठ करवाती थीं। उन दिनों घर में वह गहमा-गहमी मचती कि देवता भी धरती पर उतर आते। तीन दिन धूप-धूनी, झांझ-मंजीरों के साथ अखंड पाठ चलता। सबेरे ही सिर पर रुमाल डालकर मैं नास्तिक भी ग्रंथ साहब के आगे मत्था टेकता, भेंट चढ़ाता, कुछ देर पाठ सुनता और अंत में कड़ाह प्रसाद लेकर लौटता। “आमा दी बार” के समय सरदारनी अम्मा बड़ी तेजी से जीना चढ़कर आती और उलाहना देती, “ओए भइए (मुझे वह सदा भइए कहकर पुकारती रही हैं) ओत्थे आसा दी बार होंदी पयी और तू एत्थे बैठा। छेती नाल आ जा, सब तेरी राह देखते।”

मैं तुरंत भीगी बिल्ली की तरह पीछे-पीछे जीना उतर जाता और पहले से ही वहा बैठी सुमति मेरी ओर देखकर व्यग्य से मुसकरा देती। वह खाटी सिख परिवार की बेटी है। हम दोनों एक साथ पढ़ते थे। वही प्रेम हुआ। कोर्ट मैरिज की थी हमने, पर सुमति जब-तब शरारत करने से बाज न आती। सरदारनी अम्मा से मेरी शिकायत करती रहती, “देखो अम्माजी! इन्हें समझाओ न। ईश्वर, धर्म-कर्म, किसी में जरा भी आस्था नहीं इनकी।”

सरदारनी अम्मा उलटा उसे ही उलाहना देतीं, “अरी, तू भी कैसी सिक्खनी है, एक भर्द दा मन नहीं बदल सकी।”

सुमति बिना सोचे-समझे बांल उठती, “बड़े आए मर्द। पहली ही मुलाकात में चारों खाने चित्त कर दिया था।”

लेकिन दूसरे क्षण जैसे ही अपने शब्दों का अर्थ समझती तो मुह में कपड़ा ठूसकर भाग खड़ी होती। तब सारा वातावरण मुक्त अट्टहास से गूँज-गूँज उठता।

वही गूँज आज हिचकोल खाते इस डिब्बे में मेरी छाती को चीरे दे रही है जेमे पेचकस पेच को अंदर और अंदर ऐंठता चला जाता है। कैसे बन जाता है सब कुछ अतीत! जिसको हमने जिया वही स्मृति का रूप कैसे ले लेता है

उनका पड़ोसी बने अभी साल ही हुआ होगा कि देखता हूँ, कभी-कभी मनजीत मेरे पोस्ट बॉक्स में से डाक निकाल लेता है और चिदी-चिदी करके इधर-उधर बिखेर देता है।

सुमति बोली, “सरदारनी अम्मा से मैंने कहा था। वे नाराज हो गईं। बोली तक नहीं सवेरे से। और मनजीत तबसे चिल्ला रहा है, ‘फाड़ूंगा और फाड़ूंगा, बक्सा तोड़ दूंगा।’ ”

मुझे भी यह सब अच्छा नहीं लगा। बोला, “यह तो बुरी बात है। कुछ करना होगा।”

पर मैं नीचे जाकर नाटक नहीं करना चाहता था। चाहता था, किसी समय अम्माजी से बात करूँ लेकिन देखता हूँ कि सरदारनी अम्मा तभी ऊपर चली आ रही है। बेहद गंभीर स्वर में कहती हैं, “बहू! बच्चे तो राम मोर बंदर होन्दे हैं। जितना टालोगे उन्ना ही हौर अडनगे। तुम ताला पा दो बक्से डच। इणादा क्या है। मैं तो बहुत टालिया पर रूड पुड जागिए एक नह सुणदे।”

फिर उनका गला भर आता और मैं व्यस्त होकर बोल उठता, “अरे अम्माजी, आप भी किस बात के लिए परेशान हो रही हैं। ये बदर शैतानी नहीं करेंगे तो क्या सुमति और मैं करेंगे। मैं समझा दूंगा मनजीते को .।”

तभी मेरी नजर मनजीत पर पड़ती है। वह न जाने कब तक वहाँ खड़ा हो गया है। अपना नाम सुनकर बोल उठता है, “भाई माहब! मैंनू यह सवाल नहीं आदा। समझा दीजिए।”

“ओय, तू मेरी डाक क्यूँ फाड़दा है?”

“अब नहीं फाड़ंगा।” मनजीत ऐसी मासूमियत से कहता है कि हम सब खिलखिला पड़ते हैं। हर छोटे-मोटे झगड़े के बाद इस तरह खिलखिलाना मन को कैसा पवित्र कर जाता है। वाद से विवाद की ओर न जाकर संवाद की ओर लौट पड़ते हैं हम।

यही मनजीत एक दिन आयु की चिंता किए बिना मेरा सबसे प्यारा दोस्त बना। जब मैंने अवकाश प्राप्तकर इलाहाबाद में बसने का निश्चय किया तो सबसे ज्यादा वही परेशान हुआ था। बराबर चिट्ठी लिखता। बराबर मिलने आता। अभी दस दिन

पहले ही तो आया था और कह गया था, “ओय भाभिए! लडकी मैने दूढ़ ली है, पर जब तक तू हां नहीं करेगी, में शादी नहीं करूंगा।”

सुमति हँसी थी, “तब जन्म-भर बैठे रहना कुंआरे।”

“मैं तो बैठा ही रहूंगा, पर दर्द तुम्हे ही होगा..”

मैं तेजी से गरदन को झटका देता हूँ पर दृश्य तो बवंडर की तरह स्मृति के द्वार से होकर मन के पटल पर बिखर जाते हैं। सरदारनी अम्मा सवेरे-सवेरे कोयलो की अगीठी जलातीं तो हमारा कमरा धुएँ से भर जाता और तब बहुत देर तक उसकी कड़वाहट दिलोदिमाग को उन्नेजित किए रहती। एक दिन साहस करके सुमति ने कहा, “अम्माजी! आज तो धुआं कुछ बहुत ही उठ रहा है।”

अम्माजी बोलीं, “वहू! मैं क्या नहीं जानदी पर करां की। साडे घर दा कडवा धुआं तो ऊपर ही जांदा है जीवे तुहाड़े घर दा गंदा पानी थल्ले ही आवगा। उणादा सुभाव ऐ ही जो ठहरा। असी की कर सकणे।”

सुमति क्या जवाब दे लेकिन उनकी बेटी सुरिंदरकौर कभी-कभी बड़ा सटीक जवाब देती। पढ़ा होगा किसी किताब में, पानी का स्वभाव नीचे जाना, धुएँ का स्वभाव ऊपर जाना और आदमी का स्वभाव लड़ना।

मुझे खूब याद है, सरदारनी अम्मा एक बार तो लगभग चीख उठी थी, “ओय रुड पुड जाणिए। कित्थो पढ़ा सी तूने यह सब। आदमी दा स्वभाव लड़ना नहीं, प्यार करना है।”

सुरिंदर बोली, “ए वी मैन्नु पता है। लडन दे बाद ही तो प्यार किया जांदा है।”

सरदारनी अम्मा अब हँसे मो हँसे, “ओय कुडिए, तेरे पेटिच तो बड़ी लंबी दाढ़ी है ”

कितनी-कितनी प्यारी यादें, पर कितनी पीड़ा देने वाली! क्या सोच रही होगी सरदारनी अम्मा आज? कैसा लग रहा होगा उनका वह भरा-भरा चेहरा।

कैसे बन जाता है हैवान भला-चंगा इनसान। कैसे ढहाने लगता है। कहर बेगुनाहों पर? कैसा लगा होगा मनजीत को ..

तीर की तरह एक हूक उठती है और मेरी चेतना चिथड़े-चिथड़े होकर बिखर जाती है। फिर मुझे कुछ पता नहीं रहता कि कब गाजियाबाद आया और कब सुमति ने मुझसे कहा, “एक प्याला चाय ले लो।”

मैं आंखें खोलता हूँ। सुमति की सूजी हुई लाल-लाल आंखें मुझ पर झुकी हुई हैं। जानता हूँ, वह भी रात-भर नहीं सोई। मैं सप्रश्न उसकी ओर देखता हूँ। वह समझ जाती है। कहती है, “मैं भी ले रही हूँ, उठो।”

यंत्रवत् हम चाय का एक-एक घूंट भरते रहते हैं। हर घूंट के साथ कुछ चेहरे आखों में तैर जाते हैं कि अचानक मेरी दृष्टि समाचार-पत्र पर पड़ती है जो मेरे सामने

का साट पर एक सहायात्रा ने खरादा हं म उस ठठा लेता हू मुखपृष्ठ पर वही फजाब के आतकवादियों के बारे में रिपोर्ट है बाक्स में भी एक समाचार है धार्मिक उन्माद और पागलपन की भी एक सीमा होती है। अभी चार दिन पहले अमृतसर में बेगुनाह डा सर्वजीतसिंह की हत्या इसलिए कर दी गई थी कि वे केशधारी नहीं थे। कल उनके छोटे भाई मनजीतसिंह की हत्या हरियाणा में करनाल के पास इसलिए कर दी गई है कि वे केशधारी थे ”

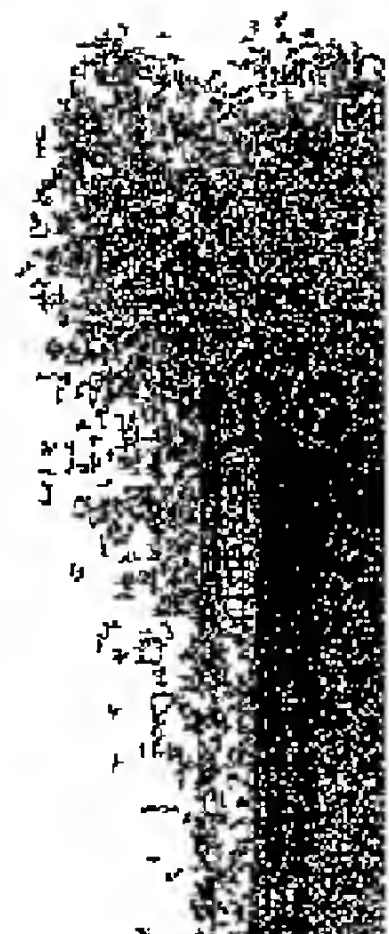
चाय का पात्र हाथ से छूट जाता है। मैं काल और दिक् से निरपेक्ष शून्य में डूब जाता हूं। सुमति की लाल-लाल डरावनी आंखें जैसे फट जाती हैं—सीमाहीन विस्तार में

पता नहीं कैसे हुआ यह सब। कैसे हम उस घर की ड्योढ़ी तक पहुंचे। मौत का गहरा सन्नाटा व्याप्त था वहां। एक शब्दहीन अंतर्द्वंद्व में लिपटा था सब कुछ। कौन है वह सामने शोकाकुल महिलाओं से घिरी खंभे से टिकी एक पत्थर की मूरत, बाल बिखरे, आंखें मुदी, चेहरा भावशून्य, एक जिंदा लाश...

सुमति बदहवास दौड़ती है और ब्रह्मांड को भेदता एक शब्द ‘अम्माजी .’ निकलता है उसके मुख से। फिर वहीं उस मूरत के पास ढेर हो जाता है। आपाद-मस्तक सिहरता-कांपता मैं पूरी शक्ति लगाकर अपने को समेट रहा हूं और उस मूरत के पास सरक रहा हूं कि उसमें जुबिश होती है, धीरे-धीरे पलकें उघड़ती हैं, पुतलियों में हरकत आती है और वे मुझ पर टिक जाती हैं। कुछ टटोलती-सी। धुंध के पार दहकते दो शोले, पूरा वातावरण धधक रहा है उनमें..

मुझमें साहस नहीं है उस ताप को सहने का। ताज्जुब यही है कि अभी जिंदा कैसे हूं मैं कि उसी क्षण दूर क्षितिज के उस पार से एक आवाज उभरती है, जैसे पिघलता शीशा उंडेल दिया हो किसी ने मेरे कानों में “आ गया तू भइये। देख लिया, वाहे गुरु ने राम नूं कतल कर दिता, राम ने वाह गुरु नूं। दोनों नस गए। स्यापा मुका...”

एक क्षण के लिए एक बेआवाज, बेतौस हँसी उभरी उस पत्थर चेहरे पर और फिर सब कुछ पूर्ववत् हो गया।



इमका जवाब दिया रमेश के
रंकगा और जानने का महत्व ही दि

“पर आपका बेटा क्या ..?”

वृद्ध के नयन फिर चिपचिपा
डरकर कहीं भाग गया।”

“जी हा, हिंदू हिंदू को नहीं

“अजी कुछ न पूछो, आज

“आज की बात नहीं है। उ

“हैं क्यों नहीं?”

रमेश के मित्र हँस पड़े, “

मुसलमाननुमा सूरतें दिखाई देती हैं

और यह कहकर वे और

लगी जैसे कोई मगधट में हँस पड़

की बात नहीं सोचते? वहा तो ए

“नहीं बचा है तो अच्छा है

नीचे बैठे हुए अधेड़ व्यक्ति

अता-पता लगा?”

“जी हां, सुना है, वह क

उनसे पता लगा है कि वह भी

रमेश के पीछे जो व्यक्ति

आती। स्कूल से भागकर लड़क

गया?”

रमेश सबकी बातें सुन

बार-बार वृद्ध सज्जन पर जा

इनका बेटा स्कूल में परीक्षा देने

नहीं लौटेगा? उसकी मा ने प्यार

अच्छे करना और देख, सीधा

खिलता हुआ स्कूल गया होगा

होगी, उसने वह दर्दनाक खबर

रमेश कापा। उसने गरट

को देखा—वे उसी तरह कह

थी। उसे वे लोग भगाकर ले

“आपने अखबारों में

“जी हा, अखबारों में

प्रथाह

खींची। तभी सहसा एक वृद्ध व्यक्ति ने
आ जाने दीजिए।”

न दिया। एक साथ अनेक क्रुद्ध आंखें उस

नहीं तो विश्वामित्र या दुर्वासा की तरह वे

कें रमेश के मित्र ने चुपचाप दरवाजा खोल

घुस आए क्योंकि अनेक नवयुवकों ने

की थी। आ गए तो देखा—उनकी देह

आंखों में ऐसा कुछ है कि न देखते बनता

इसे बढ़ होती है कि हरहराकर फिर खुल

होती, ऐसा लगता है जैसे कोई उसे आरी

दूसरे लोगो का ध्यान उस वृद्ध की ओर

क्रोध में व्यस्त थे, धीरे-धीरे फुसफुसाते और

व्य और करुण, पाखाने के पास खड़े थे।

बैठे थे, वे एकटक वृद्ध की ओर देख रहे

“यप यहां बैठ जाएं।”

मनी हो चले हों, फिर बैठते-बैठते कहा,

“आ रहे हैं?”

वृद्ध के अतर्भन पर चोट की हो। एक क्षण

हां भी भाग्य ले जाएगा, जाऊंगा।” कहते-

होंठ हिले, पलके मुंद-सी गई। खुली तो

उस व्यक्ति के पास एक युवक बैठा था।

खिर क्यों

तब तक एक और अधेड़ व्यक्ति का ध्यान उधर खिंच आया। वे बोले “शायद आपका कोई रिश्तेदार खो गया है? आजकल गुमशुदगी की घटनाएँ बहुत हो रही हैं।”

“शायद वह आपका बेटा है?” तीसरे आदमी ने कहा।

रमेश ने एक बार उन आदमियों को देखा, फिर उस वृद्ध को। फिर उन आदमियों को देखा और और फिर उस वृद्ध को कि वृद्ध बोले, “हां बेटा। तुम ठीक कहते हो। मेरा बेटा ही खो गया है।”

“मैंने कहा था न,” अधेड़ सज्जन बोले, “वह तो आपकी सूरत ही कह रही है। बेटे का दर्द ही अलग होता है।”

“क्यों जी, दिल्ली में था?”

“जी हां।”

“कितना बड़ा था जी?”

“सोलह वर्ष का था।”

डिब्बे की एकमात्र स्त्री ने अपने बच्चे को गोद में अदर को खींचकर धोती का पल्ला उठा दिया। ऊपर की बर्थ पर लेटे हुए महाराष्ट्रीय सज्जन ने अब पूछा, “क्यों जी, कैसे चला गया था?”

“जी, स्कूल गया था।”

“और फिर लौटकर नहीं आया। मेरे एक दोस्त हैं, उनका लड़का भी स्कूल गया था, आज तक नहीं लौटा।”

सुनकर वृद्ध कुछ अस्पष्ट स्वर में बुदबुदाए, पर प्रश्नकर्त्ता ने फिर प्रश्न किया, “कितने दिन हो गए जी?”

“यही दो महीने से कुछ ज्यादा।”

“दो महीने? तब तो दिल्ली में बड़ी मार-काट मची हुई थी।”

वृद्ध ने गहरी सांस खींची, कहा, “तभी की बात है। स्कूल में इम्तहान हो रहे थे। अचानक कुछ लोगो ने हमला कर दिया।”

“मुसलमानों ने किया होगा।” महाराष्ट्रीय सज्जन बोल उठे।

“जी नहीं।”

“तो?”

“तो आप समझ लीजिए उन लोगों ने एक जाति के सभी लड़को को मार डाला..।”

“सबको?”

“जी हां।”

अवाक्-अपलक यात्रियों ने एक-दूसरे को देखा। सबके मन भय और वेदना के धुएँ से घुट रहे थे। एक व्यक्ति ने पूछा, “कितने होंगे जी?”

इसका जवाब दिया रमेश के मित्र ने, “किनने थे, यह कभी कोई नहीं जान सकेगा और जानने का महत्त्व ही कितना है?”

“पर आपका बेटा क्या . ?” ट्रंक पर बैठे हुए युवक ने सकुचाते हुए पूछा। वृद्ध के नयन फिर चिपचिपा आए थे। बोझिल वाणी में कहा, “कहते हैं, वह डरकर कहीं भाग गया।”

“जी हां, हिंदू हिंदू को नहीं मार सकता।”

“अजी कुछ न पूछो, आजकल तो. .”

“आज की बात नहीं है। आज मुसलमान हैं कहां?”

“हैं क्यों नहीं?”

रमेश के मित्र हँस पड़े, ‘मुसलमान अब हिंदुस्तान में नहीं हैं, मेरे दोस्त। जो मुसलमाननुमा सूरतें दिखाई देती हैं, वे उनकी लाशें हैं, चलती-फिरती लाशें।’

और यह कहकर वे और भी जोर से हँसे। वह हँसी डिब्बेवालों को बहुत बुरी लगी जैसे कोई मरघट में हँस पड़ा हो। महाराष्ट्रीय सज्जन ने कहा, “आप पाकिस्तान की बात नहीं सोचते? वहां तो एक भी हिंदू नहीं बचा है।”

“नहीं बचा है तो अच्छा है, तड़पना तो नहीं पड़ेगा।”

नीचे बैठे हुए अधेड़ व्यक्ति ने उधर ध्यान न देकर फिर पूछा, “क्यों जी, कुछ अता-पता लगा?”

“जी हा, सुना है, वह कराची चला गया है। वहां से जो लोग बंबई आए हैं, उनसे पता लगा है कि वह भी शायद बंबई आ गया है। वही जा रहा हूं।”

रमेश के पीछे जो व्यक्ति बैठे थे, उन्होंने धीरे से कहा, “बात समझ में नहीं आती। स्कूल से भागकर लड़का घर क्यों नहीं आया? कराची क्यों गया और कैसे गया?”

रमेश सबकी बातें सुन रहा था, परंतु बोलता नहीं था, क्योंकि उसकी दृष्टि बार-बार वृद्ध सज्जन पर जा अटकती थी। वह सोचने लगता था—उस दिन सवेरे जब इनका बेटा स्कूल में परीक्षा देने गया होगा, तो क्या इन्होंने सोचा होगा कि वह अब नहीं लौटेगा? उसकी मां ने प्यार से उसे दही और लड्डू खिलाया होगा, “बेटा। परचे अच्छे करना और देख, सीधा घर आना। आजकल बुरे दिन हैं।” और फिर बेटा खिलता हुआ स्कूल गया होगा और फिर सध्या को जब वह बेटे की राह देख रही होगी उसने वह दर्दनाक खबर सुनी होगी। तब...तब ..

रमेश कांपा। उसने गरदन को झटका दिया। उसके नयन भर आए। उसने वृद्ध को देखा—वे उसी तरह कह रहे थे, “उसे घूमने का बहुत शौक था। उमर भी चंचल थी। उसे वे लोग भगाकर ले गए।”

“आपने अखबारों में निकलवाया है?”

“जी हा, अखबारों में भी निकलवाया है, रेडियो पर भी एलान हुआ है, पर आप

जानते हैं, वहा हमारे अखबार नहीं जाते, न कोई रेडियो सुनता है।”

रमेश का मस्तिष्क धूम-फिरकर फिर वही आ गया। खबर लाने वाले ने कहा होगा, “स्कूल में कल्लेआम मच गया। सब बच्चे मार डाले गए।” तब हतभागिनी-सी उसकी मा के हृदय से एक तेज चीख निकली होगी और अपने बच्चे को देखने के लिए आतुर वह पागल-सी बाहर भागी होगी। किसी ने कहा होगा, “ठहरो बीवी। वहा खतरा है। अभी इंतजार करो।” और उसने इंतजार किया होगा। शायद अब तक कर रही है। अभी भी वह अपने दरवाजे से बाहर झांककर, उस चिरपरिचित मार्ग को देखती होगी, जिस पर उसका बेटा आता-जाता होगा...

रमेश के लिए सोचना असंभव-सा हो गया। वह दिल्ली में रहता था। उसने उम घटना की चर्चा सुनी थी, पर इससे अधिक नहीं जितनी वह आज सुन रहा था। तभी सहसा उसके मित्र ने कहा, “सामान उठा लो, रमेश। हम यही उतरेंगे।”

गाड़ी धीमी पड़ने लगी और शोर बढ़ चला। रमेश ने ऊपर से होल्डाल उतार लिया। फिर उन वृद्ध को देखा—उस धकापेल में वे उसी तरह शून्य में ताकते हुए बैठे थे। वह नीचे उतर गया। उतर गया तो जैसे होश आया, परंतु वृद्ध की झुर्रिया और चिपचिपाहट से पूर्ण दृष्टि वह नहीं भुला सका। वे उमड़-उमड़कर विचारों का तूफान पैदा करती ही रही। कई दिन बाद जब लौटकर दिल्ली आना हुआ, तब भी कभी-कभी विजली की तरह वह मूर्ति उसके नेत्रों में कौंध जाती थी। इन्हीं दिनों अचानक एक पुराने मित्र मिल गए। कई बार उनका निमंत्रण आ चुका था। वास्तव में उनकी पत्नी का बड़ा आग्रह था। रमेश उन्हें भाभी कहता था। वे कार में बिठाकर उसे घर पर ले गई। चाय का वक्त था, बिना पुकारे नौकर मेज पर सामान जुटा गया और भाभी चाय तैयार करने लगीं। मित्र किसी जमाने में कालेज के प्रोफेसर थे। कांग्रेस आंदोलन में बहुत दिन जेल काटी। अब शरणार्थी विभाग में कोई बड़ा-सा पद उन्हें मिला था, इसलिए यह स्वाभाविक था कि चर्चा ‘सब रास्ते राम को जाते हैं’ वाली कहावत के अनुसार हर कहीं होकर शरणार्थियों की समस्या पर आ अटकती थी। बातों-बातों में रमेश उन वृद्ध की चर्चा कर बैठा। अचरज से मित्र ने मुसकराकर कहा, “मैं उन्हें जानता हूँ।”

रमेश ने पूछा, “क्या वे आपके पास आए थे?”

“कई बार आए हैं। उनको पूरा यकीन है कि उनका लड़का कहीं न कहीं जिंदा है।”

“पर क्या यह सच हो सकता है?”

“असंभव। वह उसी दिन मारा गया होगा।”

“पर वह तो हिंदू था।”

मित्र मुसकराए, “मौत जाति नहीं पूछती। और वह तो सामूहिक वध था। बहुत मुमकिन है, हत्यारे उसे न पहचान सके हो।”

“शायद।”

“और नहीं तो वह कहा जाता?”

“पर उसकी लाश।”

बात काटकर मित्र ने कहा, “ऐसे मौको पर जो कुछ होता है वह क्या बताना होगा? कौन कह सकता है, कितनी लाशें उन्होंने जला या दबा नहीं दी होगी? तब तो गिनती कम करने का प्रश्न होता है।”

भाभी ने प्याला ठक् से मेज पर रख दिया और करुणा से उद्वेलित होकर अंग्रेजी में कहा, “आदमी कितना बर्बर हो गया है।”

मित्र हँसे, बोले, “आदमी वास्तव में बर्बर ही है। कौन कह सकता है, मैं कब तुम्हारा गला नहीं घोट दूंगा। कम-से-कम मुझे तो इसमें कुछ असंभव नहीं लगता। और फिर इधर जो कुछ हम देख चुके हैं, वह तो संभावना को प्रमाणित करने वाला है। हाँ कुछ लोग मानते हैं कि एक दिन मनुष्य शारीरिक बल की तरह बौद्धिक बल का परित्याग करके सम्मिलित जीवन को प्राप्त करेगा। पर जब तक बुद्धि है, बर्बरता से छूटने का कोई उपाय नहीं है।”

रमेश ने चाय का घूंट भरा और फिर कहा, “भविष्य में क्या होगा, इस पर विचार करने से इतना लाभ नहीं है, जितना वर्तमान पर। मैं कहता हूँ, वे क्यों नहीं मान लेते कि उनका लडका अब दुनिया में नहीं रहा। इस दुःख को स्वीकार किए बिना क्या उन्हें शांति मिलेगी?”

“दुःख तो यही है,” मित्र बोले, “उन्होंने इस दुःख को स्वीकार नहीं किया है। विधि के इस दान का तिरस्कार ही उन्हें साल रहा है।”

भाभी ने पूछा, “तुम इसे विधि का दान कहते हो?”

“कोई चिंता नहीं,” वे बोले, “तुम इसे व्यक्ति का दान कह सकती हो।”

रमेश ने सिगरेट जलाई और दियासलाई को बुझाते हुए कहा, “तो तुम उन्हें समझाते क्यों नहीं?”

“समझाना चाहता हूँ,” मित्र ने धुएँ के उठते हुए बादलों के उस पार ध्यान से देखा, “पर उनकी आंखें देखकर कलेजा मुह को आने लगता है। कुछ कहने को मन नहीं करता। बुद्धि बहुतेरा जोर लगाती है, पर उनकी दृष्टि “रमेश, मैं तुमसे क्या कहूँ, सब विचारों को पाश-पाश कर देती है। तब मैं सोचता हूँ, आज यदि मुझमें नारद की शक्ति होती तो अपने तपोबल से, राजा के बेटे की तरह, उनके बेटे की आत्मा को बुलाकर दिखाता कि जिसे वे अपना बेटा समझे थे, वह उनका दुश्मन था। तभी तो बुढ़ापे में तडपाकर चला गया।”

रमेश ने उनका प्रतिवाद करना चाहा, “पर तभी देखा, कोई अदर चला आ रहा है लेकिन यह देखकर कि साहब अकेले नहीं है, वह ठिठक गया। न जाने क्या हुआ, दूसरे ही क्षण रमेश चौंककर उठा, “अरे, ये तो वही वृद्ध हैं!”

मित्र मुड़े, “कौन?” और फिर खड़े होकर कहा, “आइए, चले आइए। ये मेरे मित्र हैं।”

आज उनके वेश में इतना ही परिवर्तन था कि हजामत बढ़ गई थी और उसने उनके मुख की भयकरता को और भी गहरा कर दिया था। वे बैठ गए तो मित्र ने कहा “चाय पिएंगे?”

एक फीकी-सी मुसकराहट झुर्रियों में उठी और वहीं खो भी गई, बोले, “चाय पिऊंगा, पर पहले मेरी बात सुन लो। मुझे निश्चित रूप से पता लगा है कि किशोर मुलतान कैप में है।”

“जी, मुलतान?” मित्र विस्मित-चकित बोल उठे।

“जी हा, मुलतान कैप में। बर्बई में एक सज्जन मिल गए थे। वे सिंध से आए थे। मैंने उन्हें हुलिया बताया। ठीक उसी तरह का एक लड़का उन्होंने मुलतान कैप में देखा था। वही रंग, वही आखें, वही कपड़े। नीला निकर, सफेद कमीज, नीली धारी की जुराबें और काला जूता। माथे पर दाहिनी ओर चोट का निशान भी उन्होंने बताया। अंग्रेजी बोलना पसंद करता है और शरारती है।”

रमेश ने देखा, कहते-कहते वृद्ध की आंखें ऐसे चमकी जैसे घोर अधकार में रह-रहकर जुगनू चमक उठता है। मित्र ने साहस करके पूछा, “पर वह मुलतान कैसे जा सकता है?”

उन्होंने दृढ़ता से कहा, “वह मुझसे अक्सर मुलतान जाने की बात कहा करता था। सच तो यह है कि उसे पंजाब से बहुत प्यार था। जान पड़ता है, वह जान बचाने के लिए स्कूल से भाग गया। स्टेशन पास था। कोई गाड़ी जाती होगी, उसी में बैठकर चला गया।”

“हो सकता है।”

“जी हां, यही हुआ है।”

“तो फिर?”

“तो आप कृपा करके मुलतान कैप के इंचार्ज को लिख दें। जरा अच्छी तरह लिख दें। आपकी दया से उसका पता लग गया तो ”

आसू न जाने कहाँ रुके थे। झुर्रियों में अटक-अटककर बहने लगे। रुंधे गले से उन्होंने अपनी बात जारी रखी, “आपने मुझ पर बहुत मेहरबानियाँ की हैं। मैं उन्हें नहीं भुला सकता। एक बार और कोशिश कर देखिए। उसकी माँ को पूरा यकीन है कि वह मुलतान कैप में है।”

और फिर सदा की तरह जेब से एक चिट्ठी निकालकर उन्होंने कहा, “उसकी माँ ने यह चिट्ठी लिखी है। आप भी कैप इंचार्ज को लिख दें कि वह उसे समझा दें कि बेटा, तुम्हारी माँ तुम्हारी याद में तड़प रही है। तुम इसी वक्त चले जाओ, नहीं तो हम दोनों मर जाएंगे।”

एक बार फिर कुर्ते की जेब में हाथ डाला। कई नोट निकाले और बोले “किशोर की मां ने कहा है, पैसों की चिंता न करे। जो कुछ है, उसी का है।”

मित्र की अवस्था बड़ी विपन्न थी। वे एकटक अपने नीचे धरती को देख रहे थे वह न हिलती थी, न डुलती थी। नोटों की बात सुनकर उन्होंने दृष्टि उठाई और कहा, “इन्हें आप रखिए। पता लगने पर यदि जरूरत हुई तो मैं फिर मगवा लूंगा। और देखिए, आप अपना खयाल कीजिए। क्या हालत हो गई है। आपको अब समझ लेना चाहिए ”

बात काटकर उन्होंने कहा, “मैं सब समझता हू। न समझता तो क्या अब तक जीता रहता। पर किशोर की मां की बात अलबत्ता है। खाट से लग गई है। हर वक्त दरवाजे पर आखे गड़ाए बैठी रहती है। कोई वक्त-बेवक्त दरवाजा खटखटाता है तो चिल्लाकर कहती है, ‘देखो तो कौन है? शायद किशोर है।’ ”

फिर जैसे वे कहीं खो गए। जैसे कठ भावों के उन्मेष में जकड़ गया। कई क्षण शून्य में ताका किए और सन्नाटा गहर-गहरकर सबके दिलों को कचोटता रहा। उन्होंने ही कहा, “आप मेरी चिंता न करें। आप बहुत अच्छे हैं, बहुत अच्छे। बस, आप उन्हें लिख दें। बहुत-बहुत विनती करके लिख दें कि अपना काम है। समझें, वे अपना ही बेटा ढूँढ़ रहे हैं।”

और अपनी डबडबाई आंखों को कोहनी से पोंछकर वे उठे, “तो मैं जाऊं? आप लिखेंगे?”

“जरूर लिखूंगा और हो सका तो मैं आपके जाने का प्रबन्ध भी कर दूंगा।”

वे मुड़े। श्वास फूलने लगी, जैसे कोई सपना मिली हो, कहा, “सच?”

“देखिए, कोशिश करूंगा। चाय पीजिए।”

रमेश एकटक उनके मुख को देख रहा था। उन झुर्रियों में शिशु की सरलता उमड़ रही थी और वे दयनीय तथा डरावनी आंखें एक मधुर प्रकाश से भर उठी थी, जैसे वे किसी सुहावने स्पर्श का अनुभव कर रहे हों। उन्होंने कहा, “पीऊंगा, एक दिन आप सब लोगों के साथ अपने घर बैठकर पीऊंगा। तब तक किशोर भी आ जाएगा। वह दिन अब दूर नहीं है। मैं जानता हू, वह मुलतान कैम्प में है, क्योंकि जब घर में आपके पास आने को चला था, तो मैंने रास्ते में एक मुरदा देखा था।”

अंतिम बात उन्होंने बड़े धीरे से कही और कहकर शिशु की तरह हँस पड़े। रमेश से देखा नहीं गया। उसने मुँह फेर लिया और वे जिस तरह आए थे उसी तरह चले गए। चाय ठंडी हो गई थी और साथ ही उन दोनों के दिल भी। भाभी भी अदर चली गई थीं। कुछ देर उन्हीं से बातें करके रमेश लौट आया। मन उसका और भी अशांत हो गया। उसने सोचा—यह कैसा अप्राकृतिक जीवन है। इस छलना का अंत होना ही चाहिए, होना ही चाहिए।

बुद्धि जब सोचती है तो उसके पास रास्तों की कमी नहीं रहती। रमेश को

आखिर वह राह दिखाई दी। एक दिन बड़े तड़के उठकर उसने वृद्ध क घर पर जाने का निश्चय कर डाला जो कुछ हुआ वह बुरा था पर उस बुरपन का सपना का तरह सहेजकर रखना तो निरा जगह ही नहीं, देश के साथ विश्वासघात भी है। उन्हें साफ-साफ कहना होगा 'तुम्हारा बेटा मर चुका है। और केवल तुम्हारा बेटा ही नहीं मरा है, असंख्य मां-बापों ने अपनी गोदी के लाल गंवाकर आजादी पाई है। मा के बधन काटने के लिए संतान को प्राण होमने ही पड़ते हैं। मौत आजादी का पारितोषिक है। इसके लिए तुम्हें गर्वित होना चाहिए।'

बहुत ढूँढ़ने पर उसे घर मिला। एक पचायती मकान में उनका कमरा था। कुछ कपन-सा हुआ। वैसे सर्दियों के दिन थे। ऊपर तक कपड़े लाल लेने पर भी वायु त्वचा का संसर्ग प्राप्त कर लेती थी, इसलिए मफलर को जरा ठीक करके दरवाजे पर दस्तक दी, तो पता लगा वह खुला पड़ा है, गिरते-गिरते बचा। तनिक-सा खोलकर झाँकना चाहा कि तभी सुना, कोई बोल रहा है। ठिठककर सुनने लगा। स्वर नारी का था। लगा, थका होकर भी उसमें प्रार्थना का आवेग है। सुना, "अच्छा, अब उठो भी। क्या दफ्तर नहीं जाओगे?"

जवाब मिला, "नहीं।"

"क्यों?"

"क्योंकि यह सब झूठ है।"

"सुनो तो।"

"कुछ नहीं, किशोर की मा। अब कब तक हम इस भुलावे में पड़े रहेंगे? कब तक झूठ-मूठ मन को बहलाते रहेंगे। किशोर अब नहीं लौटेगा। वह वहाँ पहुँच चुका है जहाँ से कोई नहीं लौटता और जहाँ.."

आगे के शब्द कठावरोध में खो गए। रुदन से फूटी हुई उसास ही रमेश सुन सका, "तुम तो यूँ ही दुखी होते हो, जी। भगवान् की माया कौन जानता है। हमारे गाँव के गोविंद पंडित का बेटा सात साल में लौटा था। और सुनो तो, मैंने आज सवेरे एक सपना देखा है कि किशोर तुम्हारे पीछे-पीछे दरवाजा खोलकर अंदर आया है। उसने नीली निकर, सफेद कमीज, नीली धारी की जुराबें और काला जूता पहना है। कह रहा है, 'मां, मैंने आज का पर्चा बहुत अच्छा किया है, बहुत अच्छा' और तुम जानते हो, सवेरे का सपना हमेशा सच्चा होता है। लो उठो, मैंने चाय बना ली है। पीकर बड़े बाबू के पास हो जाओ। देर हो गई तो वे दफ्तर चले जाएंगे। उठो। उठो भी।"

उसके बाद क्या हुआ, यह जाने बिना रमेश वहाँ से सीधा अपने घर लौट आया। उसे लगा, उस वृद्ध दंपती का स्वप्न भग्न करने के लिए उसे जिस हिम्मत की जरूरत थी, उसे प्राप्त करने के लिए अभी उसे बहुत परिश्रम करना होगा।

सत्य को जीने की राह

व्यवधान पड़ गया तभी। घंटी बज रही थी। दो क्षण बाद श्रीमती खन्ना के पीछे-पीछे गदगाए यौवन और उदासीन, पर अत्यंत आकर्षक आखोवाली एक युवती ने वहा प्रवेश किया। उसकी उगली पकड़े थी शैशव की प्रतिमूर्ति तीन वर्ष की एक बच्ची। वर्ण जितना गौर था, आवाज उतनी ही मधुर थी। युवती ने सीधे खन्ना की ओर देखते हुए कहा, “अंकल, पापा को पढ़ने के लिए कुछ मैगजीन चाहिए।”

संदीप खन्ना ने साइड टेबुल पर पड़ी पत्रिकाओं की ओर इशारा करते हुए कहा, “वे हैं न, जो चाहो, ले जाओ।”

फिर बच्ची को अपनी ओर खींचते हुए बोले, “और तुम्हें क्या चाहिए? हाथी वाली किताब?”

“नहीं नानाजी,” बच्ची ने तुरंत जवाब दिया, “हमें तो चकलेट चाहिए।”

बात कुछ इस भोलेपन से कही गई थी कि सभी हँस पड़े। श्रीमती खन्ना तब तक कॉफी का प्रबध कर चुकी थी। बोलीं, “क्षमा करेंगे विनयजी, मुझे अभी कॉलेज जाना है। बहू भी अपने दफ्तर चली गई है।”

बात काट दी उदासीन आंखोवाली युवती ने, “मैं तो हूँ आंटी, मैं आ जाऊंगी।”

खन्ना बोले, उसी प्रवाह में, “आवश्यकता होगी तो आना ही पड़ेगा।”

सबके जाने के बाद टाइम्स के संवाददाता विनय वत्रा ने पूछा, “क्या यह सुरजीत सिंह की बेटी नहीं है? अभी, अभी मैंने उन्हें अपनी बालकनी में बैठे देखा था।”

“जी हां, यह उन्हीं की बेटी है,” संदीप खन्ना ने उत्तर दिया और मौन हो गए। दो क्षण बाद बोले, धीरे-धीरे शब्दों को तोलते हुए, कहीं दूर से, “अच्छा हुआ तुमने दोनों को देख लिया। तुमने पूछा था न कि सुरजीत सिंह और उसके परिवार को अपने घर में पनाह देकर मैंने अपने-आपको और अपने परिवार को क्यों संकट में डाला? बहुत-से उत्तर दिए जा सकते हैं इस प्रश्न के, परंतु विनय, मैं तुम्हें वह कुछ बताना चाहता हूँ, जो किसी को नहीं बता पाया..”

संदीप खन्ना फिर मौन हो रहे। विनय को लगा कि न जाने कहीं से आकर उस मौन में असंख्य घंटियां बज उठी हैं और उनके ऊपर से होकर आता हुआ संदीप खन्ना का स्वर किसी रहस्य के अधिकार को अनावृत कर रहा है।

संदीप खन्ना कह रहे थे, “जिस समय उस पागल भीड़ ने मेरे मकान पर

आक्रमण किया उस समय सहसा मुझे ऐसा लगा कि क्षण भर में सौतास वर्ष की लंबी अवधि पार करके सन् 1947 में जा पहुँचा हूँ। सब कुछ वैसे का वैसा कोलाहल करते पागल लोग, कड़वे घुए से भरा आकाश, नर-मांस की चिड़ाह से गघाता वातावरण। कभी स्टेनगन गनगना उठती, कभी नाना रूप नारे गूँज उठते और गूँजते ही रहते।

“ठीक याद है मुझे, उस दिन कृष्ण-जन्माष्टमी थी, पर किसी कृष्ण ने जन्म नहीं लिया था। लिया होता तो आज.”

सदीप खन्ना फिर मौन हो गए। विनय बत्रा उनके निरंतर कठोर होते रक्तहीन चेहरे को देखे जा रहे थे। कुर्सी पर बैठे-बैठे उन्होंने जुबिश की और जैसे सचमुच भूतकाल में झाँक रहे हों, वे बोले, “तब भी हम पड़ोसी थे, मैं और सुरजीत। और जवान भी, मुसलमानों के विरुद्ध उन्माद की सीमा तक निर्मम, ऐसा लग रहा था मानो महानाश के स्वामी रुद्र ने अपना तांडव नृत्य शुरू कर दिया है और निरंतर एक तार पर बजते घुंघरुओं की कर्कश ध्वनि और अट्टहास के गर्जन ने प्राणी मात्र की चेतना को लील लिया है। वे बस, यत्र मात्र है उसकी सर्वभक्षी इच्छा के। जिस समय दिल्ली महानगर की बस्तियाँ जल-झुलसकर राख हो रही थीं, उस समय सुरजीत और मैं, भय और घृणा के सेलाब में बहते हुए वहाँ जा पहुँचे जहाँ एक खंडहर होते मकान में एक सत्रह-अठारह वर्ष की सद्ययौवना को छोड़कर कोई नहीं बचा था। उसने अपने को अपने ही मा-बाप और भाई-बहनों की लाशों के नीचे छिपाकर बचा लिया था। कितनी अदम्य है जीने की लालसा! लाशों के ढेर से अपने को अलग करने की प्रक्रिया में उसकी दृष्टि हम पर पड़ी। एक चीख निकल गई उसके कंठ से, ‘न .न...ई ..नहीं...’

“फटे वस्त्रों और अस्त-व्यस्त लंबे घने काले केशों में भी वह भयातुर और सहमी फाख्ता-सी बहुत सुंदर लग रही थी, और हम लोगों के चेहरों पर से इन्सानियत की नकाब कभी की उतर चुकी थी। सुरजीत ने चील की तरह झपट्टा मारकर उस लड़की को दबोच लिया। मैंने अनुभव किया कि तब हमारी हथेलियों में शेर के पंजे उग आए थे और दांत सुअर के दांतों में बदल चुके थे। पर सच कहता हूँ, तब भी क्षण के सहस्रवें भाग में मुझे ऐसा लगा था कि चीखकर सुरजीत से कहूँ, ‘हरामजादे, उस लड़की को छोड़ा तो खून पी जाऊंगा।’ पर कह कुछ नहीं सका, क्योंकि मेरे अंतर में भी सोता हुआ चीता अगड़ाई ले चुका था। मैं कूदकर उस बदहवास लड़की के कपड़े उतारने लगा। एक बार, बस एक बार, ये करुण धिधियाते स्वर मेरे कानों से टकराए थे—‘इसके बाद तुम मुझे जान से तो नहीं मार डालोगे..?’

“उस नीम बेहोशी में बड़बड़ाती वह जूही की कली, कैसी मासूम दिखाई दे रही थी। मासूमियत खूबसूरती को और भी मादक बना देती है। उसी मादक खूबसूरती को हम दरिंदे देर तक झिझोड़ते-नोचते रहे, तब तक, जब तक उसका शरीर क्षत-विक्षत

नहीं हो गया। बीच में एक-दो बार उसकी चेतना लौटती-सी लगी। मुरदा पलकों ने जुबिश की और रक्तहीन होठ हिले। शायद, उसने कुछ कहा था, पर हम कुछ नहीं सुन सके, क्योंकि शब्द आवाज खो बैठे थे।

“न जाने कहा से मक्खियों के झुंड के झुंड बहते रक्त और खुले जख्मों पर मड़रा रहे थे। चींटियों और मकोड़ों के लिए तो जैसे किसी ने महाभोज का आयोजन किया था। वे तीव्र गति से ‘डबल मार्च’ करते हुए लाशों पर कब्जा कर रहे थे। थोड़ी-थोड़ी देर में दूर से आते ‘अल्ला हो अकबर’ और ‘हर हर महादेव’ के नारे वहां के वातावरण को कंपा जाते और फिर देर तक आंसू गैस के गोले धूम-धड़ाम से फूटते और स्प्रेनगन से अनवरत दनदनाती गोलियों की कर्कश ध्वनि छाती में बज उठती

“सहसा मैंने देखा कि सब ओर से निस्संग सुरजीत, मजिल पर पहुंचे पंथी की तरह, बड़े संतोष और सब्र से बैठा पान बना रहा है। मलबे के नीचे पानदान न जाने कैसे साबुत बच गया था। उसने दो बीड़े तैयार किए, एक मुझे दिया दूसरा स्वयं खाया, फिर परम तृप्ति से दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए उसने कहा, ‘आओ, अब जल्दी से कीमती सामान बटोर लें। देर हो गई तो और लोग हिस्सा बंटाने आ जाएंगे।’

“कुछ क्षण बाद उस मलबे के नीचे से हम कीमती वस्त्रों और गहनों का एक बक्स निकालने में सफल हो गए।

“एक क्षण के लिए मेरे मन में एक बार फिर यह विचार कौंध गया कि जो कुछ हम कर रहे हैं वह तत्कालीन परिस्थितियों में अनुचित भले ही न हो, मानवीय तो किसी भी दृष्टि से नहीं है। उचित होना ही मानवीय होने की शर्त नहीं है।

“तभी सुरजीत ने पुकारा, ‘देखो-देखो, वह होश में आ रही है।’

“एक ठंडी सिहरन दौड़ गई मेरी रगों में। वह लहलुहान लड़की होश में कैसे आ सकती थी? शायद, मेरी तरह सुरजीत के भीतर भी अपराध भावना जागी थी और उसी भावना से प्रभावित होकर उसे लड़की के होश में आने का भ्रम हुआ था..

“इतने में उसी तरह की एक आर्त चीख सुनी मैंने। सुरजीत ने कृपाण से उस लड़की का सीना चीर दिया था। एक बार शायद उसका चेहरा ऐंठा था या वह भी मेरा अपराध-बोध ही था! दूसरे ही क्षण लाश की जद्दोजहद करने की सारी शक्ति समाप्त हो गई, पर समाप्त नहीं हुई हमारी जानवर होने की क्षमता। सुरजीत सिंह ने मुझसे कहा, ‘यह लाश उठाकर बाहर ले चलो।’

“आज विश्वास नहीं कर पा रहा, पर उस दिन मैंने उसके आदेश का तुरंत पालन किया था। बाहर गली में एक सफेद घोंडे का शव पड़ा था। उसने उस लड़की के शव को उस घोंडे के शव के साथ सटाकर ऐसे लिटा दिया कि उनकी टांगें एक दूसरे में उलझ गईं। सुरजीत ने एक क्षण परम संतोष से उसे देखा और कहा, ‘सुंदर लड़कियां जानवरों को भी पसंद करती हैं!’

“फिर हमने जोर का अट्टहास किया और सामान से लदे-फदे विजयी योद्धाओं

को तरह गला से बाहर आए और विजयोत्सास से चाखती चिल्लाती भीड़ में जा मिले नागरिका की रक्षा के लिए तैनात सैनिक हाथों में स्टेनगन थामे और चेहरों का हेलमेटों से ढके ऐसे खड़े थे मानों घोषणा कर रहे हों, 'हम बुरा कर सकते हैं पर बुरा देख नहीं सकते।' "

विनय बत्रा स्तब्ध थे। पूरा समय एक शब्द नहीं बोले। अब एक विचार को धा कि व्यवधान पड़ गया। उदास आंखों वाली सुरजीत की बेटी द्वार खोलकर अंदर आ रही थी। दोनों चौंक पड़े और अजनबियों की तरह उसकी ओर देखने लगे। सब कुछ गड्ढमड्ढ हो रहा था—यह सुरजीत की बेटी थी या अपने ही परिवारजनों की लाशों के बीच अपने को छिपा लेने वाली वह बदकिस्मत मुस्लिम युवती थी—जिसकी अस्मिता को सरदार सुरजीत सिंह और श्री सदीप खन्ना ने झिंझोड़ा-नोचा था।

सुरजीत की बेटी सहम गई, बोली, "मैंने शायद, आपकी पोशीदा बातचीत में खलल डाला। मैंने सोचा था कि शायद, आपको किसी चीज की जरूरत हो।"

अस्त-व्यस्त सदीप खन्ना ने किसी तरह अपने को बटोरा, मुसकराए, बोले, "न..न ऐसी कोई बात नहीं है, बेटी। बस, तुम अचानक ही आ गई.."

आश्वस्त युवती इस बार हँस पड़ी। जैसे कमरे में धूप खिली हो, बोली "अच्छा अकल, पापा कहते हैं, आप जब जाएं तो उनके साथ चाय पीकर जाए, आप दोनों " और उत्तर की अपेक्षा किए बिना जैसे आई थी वैसे ही चली गई, पर इस बार ऐसी सुगंध छोड़ गई कि देर तक वे दोनों मौन-शांत अपने में खोए रहे। दो क्षण बाद मौन भंग करते हुए फिर सदीप खन्ना ने ही कहा, "जिस समय वह बौराई भीड़ मुझे घेरती जा रही थी, तब सुरजीत की यही लड़की मेरे सामने आ खड़ी हुई थी, और इसके चेहरे में उस मुस्लिम युवती का चेहरा गड्ढमड्ढ हो गया था, जिसे..कैसे हो जाता यह सब, कैसे? . इसके बाद मैं और कर ही क्या सकता था? क्या मैं एक बार फिर अपनी बेटी के शरीर को झिंझोड़ता या झिंझोड़े जाते देखता। एक ही बात है दोनों . दोषी तो मैं भी था। माना सुरजीत सिंह को दंड मिल जाता, पर मुझे मुझे लगा मुझे प्रायश्चित्त करना चाहिए...मैंने अपने ही को तो बचाया है।"

आगे उनसे बोला नहीं गया। विनय बत्रा स्तब्ध थे। उनके भीतर भी सब कुछ गड्ढमड्ढ हो रहा था...वह मुस्लिम बाला और सरदार सुरजीत सिंह की बेटी, सैंतीस वर्ष पूर्व के और आज के सरदार सुरजीत सिंह, सदीप खन्ना तथा निरंतर बदलते समीकरण वाली वह बौराई भीड़, जिसका लक्ष्य तब मुसलमान थे, आज सिख हैं और शायद कल..और शायद कल .

फिर कल के बाद आने वाला कल यानी—निरंतर समीकरण बदलेंगे, लक्ष्य भी बदलेंगे, लेकिन आदमी के भीतर सोया राक्षस इसी प्रकार निरंतर जागता रहेगा अपनी भूख मिटाने को, नए-नए मुखौटे लगाकर

सदीप खन्ना बोल रहे थे किसी गहरे अतल से जैसे, अपने से ही बातें कर रहे

हों, “बन्ना। लडना हमे उम राक्षस से है, लेकिन हम हैं कि बेजान मुखौटों को नोच रहे हैं।”

समुद्री तूफान में फसा यात्री जैसे किनारे पर पहुच गया हो, बन्ना ने स्वस्ति की सास लेकर कहा, उतने ही धीमे पर दृढ़ स्वर में, “कितनी प्रगति कर चुके है हम, कितने अद्भुत आविष्कार किए हमने, पर इस सत्य को जीने की राह आज तक नहीं खोज पाए। शायद, खोजना चाहा ही नहीं।”

आखिर क्यों

शंकर हमेशा कुछ न कुछ सोचा करता है। उसके दोस्त उसे सपने देखने वाला कहते हैं, पर उसे परवाह नहीं। वह सोचता है। इस दुनिया की बात सोचता है, उस दुनिया की, तारों की, और कुछ नहीं तो घर में भागते फिरते नेवले की बात ही ले बैठता है। पर इधर उसे सोचने के लिए नया मसाला मिल गया है। शहर में अभी-अभी दगा हुआ। कुछ हिंदू-मुसलमान घायल हुए, कुछ मर गए। आबादी में कुछ ज्यादा फरक नहीं पड़ा, पर जहाँ देखो फौज। सबसे बड़ी मुसीबत यह कि सरेशाम से घर में बंद होकर बैठो। शंकर बेताब हो उठा—आखिर यह कफर्यू क्यों लगा है? लोग लडते क्यों हैं? पेट में छुरा क्यों भोंक देते हैं? आखिर क्यों .

बस, उसकी ट्रेन चल पड़ी। हिंदू-मुसलमान, ईश्वर के मानने वाले और न मानने वाले, धर्म की जरूरत और इनसानी जिंदगी के बुनियादी असूल—इन सभी मसलों पर उसने विचार कर डाला। करते-करते उसे लगा कि उसने उलझनें सुलझा ली हैं। तब उसने सोचा, यह दुनिया कितनी पागल है? मामूली-सी बात को लेकर इतना तूफान खड़ा कर दिया है। यह बच्चों की सीधी-सी बात उसके दिमाग में नहीं आती। आखिर क्यों वह इतनी बेअकल है ?

तभी उसकी पत्नी पार्वती अंदर आकर बोली, “दूध लीजिए।”

उसने लापरवाही से कहा, “मेज पर रख दो।”

“पी लीजिए न, ठंडा हो जाएगा।”

“अभी पीता हूँ जी। तुमने काम निपटा लिया?”

“जी, क्यों?”

“कुछ नहीं, ऐसे ही, जरा बातें करनी थी, मामूली-सी बात है।”

पार्वती हँस पड़ी, “आपकी मामूली-सी बात मैं जानती हूँ। मेरे पास इतना वक्त नहीं है। आपका पुलोवर पूरा करना है।”

और कहकर पार्वती चली गई। शंकर उतावला हो उठा। कोई होना चाहिए जिससे मैं बातें कर सकूँ; जिसको मैं समझा सकूँ।

रात भीग चुकी थी। चारों तरफ सन्नाटा था। झींगुर की गूँजने वाली आवाज भी सुनाई नहीं पड़ रही थी। कभी-कभी कहीं दूर कुछ आवाज पैदा होती जैसे नदी का किनारा टूट कर पानी में ‘छप’ से गिरता या स्टेशन पर इंजन शटिंग के लिए निकलता और पक्कापक ऐसा जान पड़ता जैसे कोई भारी भीड़ रुकती है। पर आज शंकर ने इधर

जरा भी ध्यान नहीं दिया, वह जानता है, आजकल उसके चारों तरफ की दुनिया बुरी तरह फंसी हुई है। उनके मामले जिदगी और मौत का सबाल है। इसलिए वह एक—दूसरे को मार देना चाहते हैं। सबाल उठा—सब मारने पर तुले हैं तो जीता कौन रहेगा? जवाब मिला—जो ताकतवर है। तो जिदगी की बुनियाद ताकत है। इस विचार के आते ही उसका दिल दर्द से कराह उठा—ताकत सबसे बड़ी चीज है। ताकत की पूजा करना इनसान का पहला फर्ज है। ताकत से डर पैदा होता है और डर से शान्ति आह। शान्ति डर की बेटी है। तभी उसमें आलस और सुस्ती है। तभी उसमें मौत है। उसका दिमाग झनझनाया—पर शास्त्र कहते हैं, एकदम वह चौंक पड़ा—कहीं खटखट हुई। आंखें और कान चौकने हुए। कानों ने सुना, कोई धीरे-धीरे आ रहा है। दिमाग ने सोचा—कौन? पार्वती। नहीं तो आंखों ने देखा—आह। यह तो एक आदमी है। मन खिल उठा। कितनी अच्छी बात है। मुझे आदमी की ही जरूरत थी। मुझे उससे बहुत बात करनी हैं। और वह जल्दी से उठा। स्विच दबाया और मुड़कर निहायत अदब से कहा, “आइए, आइए। मैं आपकी राह देख रहा था। आप खूब आए। मुझे आपसे बहुत बात करनी है। मसलन यह ताकत क्या है? लोग इसे क्यों चाहते हैं और, अरे! आप खड़े हैं। आइए न, आगे आइए। यहां बैठिए, पलग है अहा। आप सोचते हैं कोई और आ सकता है। जी नहीं, पार्वती पुलोवर बुन रही है, मुन्ना सो रहा है और आप चाहे तो किवाड़ बंद कर देता हूं।”

शकर मुड़ा और दरवाजे की चटकनी बंद कर दी। अजनबी अभी तक बुत की तरह खिड़की के नीचे खड़ा था। न बोलता था न सुनता था, बस एकटक देखता था। उसके चेहरे पर अंधेरा था पर जिस्म तदुरुस्त और गठा हुआ था। उसने शलवार और कुरता पहना था। सिर नंगा था। पैरों में पुरानी पेशावरी चप्पलें थीं। कपड़े भी साफ नहीं थे। शकर अब आगे बढ़ा और पास आकर उसको बांह से पकड़ लिया, बोला, “आप कुछ सोच रहे हैं पर यकीन मानिए आप मुझसे ज्यादा नहीं मोच सकते। वैसे तो इनसान की आदत है कि वह ‘मैं हूँ’ के साथ साथ ‘मैं जानता हूँ!’ इस सच्चाई की हिफाजत जी-जान से करता है पर आज मैं इससे भी आगे बढ़ गया हूँ, मैंने एक और सच्चाई की खोज की है। उसी को लेकर मैं किसी आदमी से विचार करना चाहता था। घर में पार्वती है पर वह तो ‘मैं हूँ’ से आगे बढ़ती ही नहीं। बताइए, आप क्या मानते हैं?” कहते-कहते वह उसकी बांह पकड़े घसीटता हुआ—सा पलंग के पास ले आया और फिर दोनों हाथों से उसे बिठा दिया। रेशमी में उसका चेहरा चमक उठा। देखा, वह कुछ लंबा है, रंग चिढ़ा और नक्शा आदमी का है। हड्डिया चौड़ी और मजबूत, ओठ कुछ मोटे, आंखें कुछ डरावनी; एक अजीब शक्ल—डर हैरानी और खौफ से भरी हुई। शकर बोला, “हां तो आप क्या मानते हैं?”

वह चुप।

“आप नहीं बोलते? क्या गूमे हैं?”

वह कापा उसका आवाज फूटा ज इ इ

शकर मुसकराया आप गुमे नहीं है बड़ा अच्छा हुआ तो कहिए आप क्या कहते हैं? आर कहकर मज की तरफ घूमा देखा, दूध रखा हुआ है। बोला, देखिए मैं भी कैसा बेवकूफ हू। आप आए और आपसे बहस करने को तैयार हो गया आपकी बात तक नहीं पूछी। पार्वती ठीक कहती है, मैं कुछ नहीं सोचता। कैसी मजेदार बात है? हमेशा सोचता रहता हूँ और पार्वती आराम से कह देती है—आप बिलकुल नहीं सोचते। उसका मतलब है, मैं समय पर समय की बात नहीं सोचता। शायद वह ठीक कहती है। आप पहली बार आए हैं। शास्त्र में आपको मेहमान कहा है और लिखा है, मेहमान को सबसे पहले अर्घ्य देना चाहिए। खैर, आप दूध पीजिए और कुछ खाए तो पार्वती को पुकारूँ?”

“जी.”

“पुकारूँ? शायद खाना रखा हो।”

“जी नहीं।”

“आप तकल्लुफ करते हैं। आप आए हैं। आप मेरे साथ दूध पिएंगे और हा। जाड़े की रुत है। मेरे पास बादाम रखे हैं।”

और वह उठा। अलमारी खोली। दो प्लेट, दो प्याले और एक शीशी निकाल लाया। शीशी में मुन्ना के लिए बादाम और काजू रखे हुए थे। उन्हीं को प्लेट में डाला, प्याले में दूध भरा फिर छोटी मेज उठाकर पलंग के पास रखी। सब सामान उस पर सजाया और बोला, “अब आइए! खाएंगे। और बातें करेंगे।”

लेकिन इसी बीच, जब शकर की पीठ उसकी तरफ थी, अजनबी फुर्ती से उठा और खिडकी के पास आया, झुका और तेजी से हाथ में छिपी हुई चीज बाहर फेंकना चाहा। तभी शंकर मुड़ा। अजनबी कापा, वह चीज खून से वही खिडकी के फर्श पर गिर पड़ी। शंकर चौंका, “क्या गिरा?” इधर-उधर देखा फिर काम करने लगा। अजनबी को काटो तो खून नहीं। मुह सूख गया। थर-थर कापने लगा, पर शकर ने उसे नहीं देखा। काम पूरा कर चुका तो बोला, “अब आइए, खाएंगे और बातें करेंगे।” तभी उसकी नजर खिडकी पर पड़ी। कुछ चीज चमक रही थी। वह उठा, देखा, छुरा था—चमकता हुआ फौलादी छुरा। वह मुसकराया। उसने छुरा उठा लिया और बोला, “आज कैसा सुंदर दिन है। बाइबिल में लिखा है,” उसने कहा, “रोशनी हो और रोशनी हो गई। मैंने भी चाहा—बातें करने के लिए आदमी चाहिए, तुम आ गए। बातें छुरे पर करनी थी, छुरा आ गया। सचमुच मैं खुदकिस्मत हूँ।” वह फिर अपनी जगह आ बैठा। छुरा उसने प्याली के पास मेज पर रख दिया और कहा, “आइए। हम अपना काम शुरू करें। बात यह है कि मुझे छुरे के बारे में ही बातें करनी थीं यानी इसके इस्तेमाल के बारे में। जैसा कि आजकल होता है—आप जा रहे हैं, पीछे में आकर कोई भी आपके पेट में या कमर में या गर्दन में, गरज कि कहीं भी छुरा भोंक देता है।

आखिर क्यों ?”

अजनबी ऐसे जैसे पत्थर की मूर्त हो न हिले न डुले, पलके अडिग, दिल धकधक, टिमाग झनझन, जवाब के लिए जैसे ही शंकर ने आखे उठाई तो अचरज से बोला, “अरे! आप बैठे हैं। वाह! खाते क्यों नहीं? पहले खाइए, फिर जवाब दीजिए। सोचकर जवाब दीजिए। छुरा आपके सामने रखा है। इस पर ध्यान जमाइए। यह क्यों बनाया गया? इसकी क्या जरूरत है? कुछ लोग कहते हैं, इसकी बिलकुल जरूरत नहीं। लेकिन खैर, इस वक्त मानकर चलते हैं कि यह बना है तो इसकी जरूरत है। पर जरूरत क्या है? इसको कहा काम में लाना चाहिए? इस बात पर हमे जरा तफसील से सोचना है। इसी भवाल पर सोचते-सोचते मैं ‘मैं हू,’ ‘मैं जानता हूँ’ से आगे बढ़ गया। यानी ‘दूसरे हैं’ ‘दूसरे जानते हैं’ और मैं और दूसरे एक हैं। दोनों के मसले एक है, दोनों के हल एक हैं। फिर यह गड़बड़ घोटाला क्यों है? समझ में नहीं आता—आखिर क्यों ?”

इतना बोल चुकने के बाद शावाशी के लिए जब शंकर ने अजनबी की तरफ देखा तो वह मुह में काजू डाले, ओंठों से प्याला लगाए, कांपता हुआ उसी की तरफ एकटक देख रहा था। शंकर के देखते ही उसने प्याला मेज पर रख दिया और काजू को जल्दी-जल्दी चबा डाला। तब तक शंकर ने तीन-चार काजू खाए और आधा प्याला दूध पी लिया। फिर बोला, “अच्छा! एक सीधा-सा सवाल पूछता हूँ।”

“जी।”

“तुम आदमी हो, यह तो मैं देख ही रहा हूँ। गरीब लगते हो। मुश्किल से पेट भर पाते होगे। बीवी-बच्चे सभी हैं। हाँते ही हैं। उनका पेट न भरता होगा तो कलेजा फटता होगा। देखो न, मैं भी दफ्तर में बाबू हूँ। खाने-पीने लायक कमाता हूँ पर सच मानो, कभी-कभी वह भी नहीं पुरता। हा, जरा मयार में फरक जरूर है। तुम मुरदों का खाना खाते हो। मैं भूखों का खाता हूँ। पर आदमियों का न तुम खाते हो, न मैं।”

अजनबी की आवाज पहली बार ठीक-ठीक फूटी, बोला, “सच कहता हूँ, बाबूजी, आधी जून भी पेट नहीं भर पाता।”

“जानता हूँ। तुम्हारी सूरत कह रही है। बच्चे कितने हैं?”

“चार।”

“लीजिए आप हैं, बीवी है, चार बच्चे और .”

“जी, अम्मा हैं।”

“आर करते क्या हो?”

“एक दुकान पर नौकर हूँ। चालीस रुपये मिलते हैं।”

“अब सोचो। सात आदमी और चालीस रुपये। फिर इतना बड़ा शहर—जिसमें एक से एक बढ़कर आलीशान इमारतें, सैकड़ों बैंक, मिलें, फैक्ट्रियाँ और चमचमाते बाजार हैं। दूर क्यों जाते हो तुम्हारा मालिक कितना कमाता है?”

“जी, उनकी किराने की बड़ी दुकान है। थोकफरोश है। खुदा झूठ न बुलाए पाच-छै हजार महावार तो कमाते ही है।”

“तो कभी सोचा, ऐसा क्यों है? क्यों थोड़े-से लोग दूसरों की मेहनत पर ऐश करते हैं? क्यों इन्होंने इतना धन जमा किया है? क्यों पसीना बहाकर भी तुम भूखे मरते हो? आखिर क्यों, कभी सोचा?”

अजनबी कुछ जवाब न दे सका। अब वह कुछ बेतकल्लुफी से बादाम खाने की कोशिश कर रहा था। शंकर ने फिर कहा, “उनके बच्चे खाकर खराब करने में फख्र समझते हैं। खुदा उनको खराब करने को भी देता है। उनकी औरते ऐशोइशरत की पुतलिया बनकर गरीब दिलों में आग लगाती फिरती है, खुदा उनके लिए आग लगाने के सामान मोहय्या करता है, पर तुम्हारे बच्चे मेहनत करके जब पेट भरने को रोटी मांगते हैं तो उन्हें नहीं मिलती। तुम्हारी मा, तुम्हारी बहन, तुम्हारी बीवी अपनी इज्जत ढकने के लिए कपड़ा मांगती है वह भी खुदा उन्हें नहीं दे सकता! कभी सोचा मेरे दोस्त, ऐसा क्यों है?”

अजनबी का हाथ रुक गया था। उसका दिल भरा आ रहा था। उसकी खूखार आखों में रोशनी चमकने लगी थी और छुरा उसी तरह मेज पर रखा हुआ था। अदर से पार्वती दो बार शंकर को सोने के लिए बुलाने आई। उसने देखा, दरवाजा बंद है और सुना, वह किसी के साथ बड़ी तेजी से बातें कर रहे हैं। वह लौट गई। फिर आई दरवाजा उसी तरह बंद था। शंकर अभी-अभी चुप हुआ था। उसने दूसरी आवाज सुननी चाही। खड़ी रही, पर आवाज आई तो शंकर की ही थी। अगर्चे वह गुस्से में थी तो भी वह मुसकरा पड़ी और फुसफुसाई—अपने सामने वह कभी किसी को नहीं बोलने देते।

और शंकर कह रहा था, “मेरे दोस्त। सोचते सब है।” तुम, हम, वह—सब। पर अफसोस, गलत सोचते हैं। क्या सोचेंगे—तुम पूरब की तरफ मुह करके पूजा क्यों करते हो? तुम बुत क्यों पूजते हो? तुम शादी ऐसे क्यों करते हो? गरज कि झटका हलाल, आवागमन, खुदा, ईश्वर, स्वर्ग-नरक न जाने क्या-क्या मसले हैं? सोचते हैं और लड़ते हैं। फैसला तो इन बातों का हो नहीं सकता। किसने देखा है ईश्वर को या खुदा को? कौन जानता है, मरकर हम कहां जाते हैं? क्या फिर जनम लेते हैं या नहीं? जिस चीज का कोई हाजिर सबूत नहीं उसके बारे में फैसला कैसा? और जिसके बारे में फैसला नहीं हो सकता उसके बारे में लड़ाई कैसी? यह तो ऐसे मसले हैं कि जिनको दिलचस्पी है, खोज करते रहें। बाकी सब लोग आजादी से किसी भी तरफ मुह करके पूजा करे। बाकी मस्जिद के आगे बाजा और गाय की कुर्बानी ऐसी बातें! जड़ तो यह है नहीं, बहाने हैं। दिन-भर ट्राम धड़धड़ाती है, हवाई जहाज धे-धे करते हैं मोटर पो- पों पुकारती रहती है पर कभी-कदाक बाजा नहीं बज सकता? और जित करने वाले भी अजीब दिमाग वाले हैं। मिलटरी के लिए लाखों गायें कटती हैं पर एक गाय के लिए खून बहा देंगे। यह कोई जीवन के असली मसले थोड़े ही हैं। असली

मसला है 'मैं हूँ' इसका हल है 'दूसरे भी हैं, दूसरे के होने में ही मेरा होना है।' मैं जानता हूँ, दूसरे जानते हैं। ज्ञान की कोई हद नहीं, यह वाद की बातें हैं। हम पहले जो असली बात है, उसको भूल गए हैं। दूसरी, जो नकली है, उसके लिए पागल हुए फिरते हैं। एक-दूसरे को खा जाना चाहते हैं। अच्छा बताओ, सब मुमलमान हो जाए तो क्या सवाल खत्म हो जाएगा? दुनिया में इतने मुसलमानी राज हुए और हैं भी। क्या वह सब सुखी थे? क्या उन्होंने 'मैं हूँ'—'दूसरे हैं'—'दूसरे के होने में मेरा होना है'—इस सच्चाई को पहचाना था? या हिंदुओं या दया की मूर्ति ईसा के भक्तों ने, या अकल के पुतले कम्प्यूशियस के चेलों ने या तथागत बुद्ध के पैरों ने बुनियादी सच्चाई का हमेशा पालन किया और करते हैं? मेरे प्यारे दोस्त! इस सच्चाई को पहचानने के लिए किसी के पास जाना जरूरी ही है, यह बात नहीं है। यह इनसानी जिदगी का बुनियादी मसला है और इसके लिए इनसान बने रहना जरूरी है। सोचना चाहिए कि दूसरे के होने में मेरा होना कैसे है? अनाज पैदा करके भी किसान भूखा क्यों रहता है? महल बनाकर भी मेमार झोंपड़ों में सिर क्यों छिपाता है? कपड़ा बुनकर भी जुलाहा तन क्यों नहीं ढक पाता? इसके जवाब में अक्सर कहा जाता है—जो पैदा करने वाले हैं, वह अपनी पैदा की हुई चीज का इस्तेमाल नहीं करते, दरख्तों पर कितने फल आते हैं पर वह उन्हें कभी नहीं खाते। सुनने में कितनी प्यारी पर असल में कितनी गलत दलील है। फल दरख्त की खुराक नहीं है। जो उसकी खुराक है वह उसे खुद-ब-खुद मिलती है। कुदरत उसे गैस देती है, इनसान खाद देता है, पानी भी देता है। न दे तो फल न मिले। लेने का देना है। दूसरी तरफ, अनाज पैदा करने वाले किसान की जिदगी वही अनाज है जो वह पैदा करता है। वही उससे छीन लिया जाता है और उनको दे दिया जाता है जिन्होंने उसके लिए कोई मेहनत नहीं की। आखिर क्यों? आखिर यह बात तुम्हारी समझ में क्यों नहीं आती? आखिर क्यों तुम जेब में छुरे डाले उन आदमियों को मारने की टोह में रहते हो जो कमोबेश तुम्हारी ही तरह भूखे नंगे और बेघर हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि वह शायद तुम्हारी तरह पूजा नहीं करते और मुझे तो इसमें भी शक है कि तुम या वह कभी सही मानी में पूजा करते भी हो।" कहते-कहते शंकर अपनी जगह से उठा। फिर छुरा उठाया और घुमाने लगा। छुरा घूमता और बिजली की रोशनी में चमक उठता। अजनबी अचरज से उसे देखता रहा। शंकर यकायक रुका और उसके सामने आकर बोला, "यह छुरा आपका है?"

अजनबी कांपा, "मेरा..."

"जी, यह छुरा आपका है?"

"जी, हा!"

"तो फिर लीजिए और मुझे मार दीजिए। इसीलिए तो आप घर से निकले थे।" एकदम जैसे बिजली कौंधी। अजनबी कांप-कांप उठा। अंदर कोई तेजी से चीखा और फिर गिर पड़ा, शंकर जैसे दुनिया में लौटा और बेसावता बोला, "पार्वती" उमने

जल्दी से दरवाजा खाला देखा सामने फर्श पर पार्वती बेसुध सी पड़ी है उसने ममता से पुकारा पार्वती पार्वती

अजनबी पीछे-पीछ उठ आया था। उसने कहा, जल्दी से पानी ले आइए। शंकर दौड़ा, पानी उडेलता कि जागकर मुन्ना रो उठा। अजनबी ने बड़ी बेतकल्लुफी से बच्चे को उठा लिया और कहा, “मुह पर पानी के छीटे दीजिए, डर गई हैं।”

शंकर ने वैसा ही किया—एक लम्हा, दो तीन लम्हे, पार्वती कुनमुनाई। शंकर ने पुकारा, “पार्वती”

पार्वती बोली, “जी।”

“आंखें खोलो।”

“जी।”

“कैसी तबियत है?”

“अच्छी है।” कह कर पार्वती ने आंखें खोल दी। गौर से शंकर को देखा, फिर देखा—कोई उसके बच्चे का लिए जल्दी-जल्दी महन में घूम रहा है। पुचकारता है, चुमकारता है पर बच्चा बार-बार सुबक उठता है। अचरज से बोली, “कौन है?”

“एक दोस्त।”

“दोस्त।”

“हां दोस्त है। न होता तो क्या इस तरह घूमता!” और कहकर शंकर हँस पड़ा, “डरपोक कहीं की। कान लगाकर बातें सुन रही थी। छुरा का नाम सुनकर जान निकल गई। उठो, खुद तो क्या जीओगी, दूसरों का जीना दूधर कर देती हो। अरे, मेरे लिए दर्द था तो जान पर खेल जातीं...”

पार्वती अब पूरी तरह ठीक हो गई थी। लजा गई। बोली, “मैं तो समझी थी, सचमुच छुरेबाजी होने वाली है। तुम बड़े वैसे हो, डरा देते हो। जाओ, उनसे बच्चे को ले आओ। मैं उनके सोने के लिए बिस्तर लाती हूँ।”

पार्वती उठी और अंदर चली गई। शंकर उठा और अजनबी के पास आकर बोला, “माफ करना, मैं तुम्हारा नाम पूछना तो भूल ही गया था।”

“मुझे रफीक कहते हैं।”

“तब रफीक साहब, बच्चा मुझे दीजिए। बिस्तर बैठक में ला रहा हूँ।”

रफीक चौंका, “पर मैं जाऊंगा।”

“जाएंगे, कफर्यू में? क्या कहते हैं?”

रफीक ने सिर झुका लिया। भीतर से आवाज हुई। शंकर ने जाकर बिस्तर ले लिया। पार्वती ने पूछा, “खाना तो नहीं खाएंगे?”

शंकर ने उसी बात को जोर से दोहराया, “अरे भाई, पूछती हैं, खाना तो नहीं खाएंगे।”

कांपता हुआ जवाब मिला, “नहीं, नहीं।”

“पूछो, दूध।”

शंकर ने पूछा, “दूध?”

रफीक ने जवाब दिया, “जी, पिया तो।”

शंकर बोला, “अरे हा। जो दूध तुम दे आई थीं वह हम आधा-आधा बाटकर पी गए। तुम मुझे हमेशा पागल कहा करती हो लेकिन अमल में मैं हूँ जरा कम।”

पार्वती हँस पड़ी, कहा, “जब खुद नहीं होते तो दूसरो को पागल बनाते हो। बात एक ही है।”

शंकर भी ठट्ठा मारकर हँसा और हँसता-हँसता बैठक में आया। देखा—रफीक गुमसुम एक कुर्सी पर बैठा हुआ ऊपर की तरफ ताक रहा है। उसकी आंखें आसुओं से भरी हैं। अनदेखा करके शंकर ने कहा, “रफीक भाई, यह रहा तुम्हारा बिस्तर। बातें तुम से खूब हुईं। अब सोओ, सवेरे मुलाकात होगी। तब तक बिदा।” शंकर ने हाथ उठाया और चला गया।

लेकिन सवेरे जब कमरे में आया तो देखा—रफीक नहीं है। सब सामान पहले की तरह है। बिस्तर करीने से लिपटा है। उसके ऊपर एक परचा पिन किया हुआ है। जल्दी से निकालकर पढ़ा, रफीक ने लिखा था :

“समझ मे नहीं आता, यह सब क्या हुआ। मैंने ख़्वाब देखा था या इस दुनिया से कहीं दूर भटक गया था। रात-भर सोचता रहा पर किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सका। बहरहाल, आपका सामना करने की हिम्मत इस वक़्त मुझ मे नहीं है। यह मेरी कमजोरी है पर जो है, वह है। कभी उस पर फतह पा सका तो एक दिन आप लोगो का नियाज़ हासिल करने आऊंगा। तब तक के लिए अलविदा। अपनी अच्छी बीवी को मेरा सलाम देना। अपने प्यारे बच्चे को प्यार। और यह छुरा आपके लिए था, आप ही रखिए। यकीन रखिए, एक दिन आऊंगा ”

अधूरी कहानी

नारो की आवाज धीरे-धीरे धीमी, फिर बहुत धीमी पड़ गई। प्लेटफार्म की भीड़ छटने लगी और सब लोग अपनी-अपनी सीट पर जा बैठे। इसी बीच में एक मुस्लिम युवक एक हिंदू सज्जन से उलझ पड़ा था। युवक कह रहा था, “हम पाकिस्तान नहीं चाहते लेकिन कांग्रेस ने मजबूर कर दिया है। हम अब उसे लेकर छोड़ेंगे।”

हिंदू साहब ने तलखी से जवाब दिया, “पाकिस्तान। जो पाकिस्तान आप छ सो बरस की हुकूमत में न बना सके उसे अब गुलाम रहकर बनाना चाहते हैं। एकदम नामुमकिन।”

एक भारी बदन के मुसलमान, जो सामने की बर्थ पर बैठे हुए थे, बीच में बोल उठे, “छः सौ नही साहब! हमने नौ सौ बरस हुकूमत की है।”

“जी हा, नौ सौ वर्ष।”

“और उन नौ सौ बरस में हिंदू बराबर हमसे नफरत करते रहे।”

“जी, क्या कहा आपने?” हिंदू साहब बोले, “नफरत करते रहे? जो जुल्म करता है उससे नफरत ही की जाती है, प्यार नहीं।”

उन मुसलमान भाई ने बड़े अदब से कहा, “जुल्म क्या है? इस पर सबकी अलग-अलग राय है, पर मेरे दोस्त। आप लोगों ने हमें सदा दुरदुराया। हमारी छाया से भी आपको परहेज था। माना हम जालिम थे। पर जालिम के पास भी दिल होता है। वह कभी-न-कभी पिघल सकता है। लेकिन परहेज सदा मोहब्बत की जड़ खोदता है। वह नफरत करना सिखाता है। आपने हमसे नफरत की और चाहा कि हम आपसे प्यार करें। यह कैसे हो सकता था? माफ करना, मैं आप लोगो की कदर करता हूं। मैं मेल-जोल का पूरा हामी हूं, पर आप बुरा न मानें तो एक बात पूछना चाहूंगा।”

हिंदू भाई की तेजी और तलखी अब कुछ घबराहट में बदलती जा रही थी और दूसरे मुसलमान साहब अजीब अदा से मुसकराने लगे थे। तो भी उन्होंने कहा, “जी। जरूर पूछिए।”

वह मुसलमान भाई निहायत शराफत से बोले, “अछूत हिंदू हैं, पर आप उन्हें ताकत सौंप दीजिए, तब, मैं पूछता हूं, वह आपसे प्यार करेंगे या नफरत?”

हिंदू भाई सिरपिटाए। उन्हें एकाएक जवाब न सूझा। मुसलमान साहब उसी सजीदगी से कहते रहे, “मैं जानता हूं, आज आप उनमें से कुछ को अपने बराबर मानने लगे हैं। मेरे ऐसे हिंदू दोस्त हैं जो इनसान-इनसान के बीच के भेद को दुनिया का

सबसे बड़ा पाप समझत है। पर मेरे दाम्पत्य। भेद की इस लंकार को बराबर गहरी करने में जाने या अनजाने, जो लोग मदद करते आए हैं उनके पापों का फल तो आपको भुगतना ही पड़ेगा। आप यह न समझिए, मैं आपकी कौम और मजहब पर कोई हमला कर रहा हूँ। मैं आपके धर्म को समझता हूँ। पर दूसरों में कमी है, यह कहकर कोई अपनी कमी को सही साबित करने की कोशिश करे, तो वह महज अपनी जिद और बेवकूफी जाहिर करेगा। जो असलियत है उसका सामना करना ही इन्सान की इन्सानियत है। मैं आपको एक छोटी-सी कहानी सुनाता हूँ। मुझे वह मेरी वाल्दा ने सुनाई थी।”

इतना कहकर वह पल-भर रुके। डिब्बे में सन्नाटा छा गया था। पता नहीं लगा, गाड़ी कब चल पड़ी और कब ‘शडाक-शू छडाक-छू’ की गहरी आवाज करती हुई अगले स्टेशन पर जा खड़ी हुई। सूरज डूबने लगा था। एक भाई ने स्विच दबा दिया। बिजली की हलकी रोशनी से डिब्बा चमक उठा।

तब उन भारी बदन के मुसलमान भाई ने कहना शुरू किया, “मेरे दोस्तों! बात आज से तीस बरस पहले की है। हमारे सूबे में एक छोटा-सा कस्बा है। उसमें हिंदू-मुसलमान सभी रहते हैं। वह सदा आपस में मोहब्बत करते थे। एक-दूसरे के दुःख-सुख के साथी थे, लड़ते भी थे, पर वह लड़ना प्यार की तड़प को और भी गहरा कर देता था। हिंदुओं के त्यौहारों पर मुसलमान उन्हें बधाई देते थे। मौसम की पैदावार का लेना-देना चलता था। होली जलती तो जौ की बाले पहुंचाने का जिम्मा मुसलमानों पर था। ईद के दिन हिंदू अपनी गाय-भैंसों का सारा दूध मुसलमानों में बांट देते थे। सवेरे ही दूध दुहकर वह अपने-अपने दरवाजों पर खड़े हो जाते और थोड़ा-थोड़ा दूध सब मुसलमानों को देते। उस दिन उनके हारों (अहारों या अंगीठियों) से धुआं नहीं निकलता था, लेकिन उनके दिल की दुनिया खिल उठती थी। मैं नहीं जानता, यह रिवाज कब और कैसे चला। इसकी बुनियाद जुल्म पर भी हो सकती है। पर उन दिनों यह मोहब्बत, इन्सानियत और हमदर्दी का सबूत बन गया था। जो हो, उस साल भी ईद आई। मुसलमानों के घर जन्नत बने। उनके बच्चे फरिश्तों की तरह खिल उठे। लेकिन दुनिया आखिर दुनिया है। यहां जिदगी के बाद में मौत होती है। रज हमेशा खुशी का दामन पकड़े रहता है। इसीलिए जब सब लोग हँस रहे थे, एक घर में बालक दुखी मन चुपचाप अपनी अम्मी की चारपाई के पास बैठा था। उसकी अम्मी फातिमा बीमार थी। उसकी सास फूल रही थी। वह बेचैन हाथ-पाव फेंक रही थी। लेकिन यह बेचैनी बुखार की इतनी नहीं थी जितनी खाविंद की याद की। पार साल अहमद का बाप जिदा था तो घर में फुलवाड़ी खिली थी। वह अचानक एक दिन खुदा को प्यारा हुआ, घर वीराना हो गया। आज ईद आई है, लेकिन..

एकाएक फातिमा को न जाने क्या सूझा, वह उठकर बैठ गई। उसने हांफते-हाफते कहा, “मेरे बच्चे! कितना दिन चढ़ गया? तू दूध लेने नहीं गया।”

अहमद ने सिर हिलाकर कहा, नहीं अम्मी।

फातिमा के दिल पर चोट लगी। उसकी आंखें भर आईं। वह अपने को कोसने लगी—“मैं कैसी कमीनी हू। साल का त्यौहार आया है और मेरा बच्चा इस तरह मोहताज, बेबस बैठा है। नहीं, नहीं, आज ईद मनेगी जरूर मनेगी।

और उसने कहा, “जा अहमद। तू जल्दी जाकर दूध ले आ। मैं तब तक तेरे कपड़े निकालती हू। जा, जल्दी कर मेरे बच्चे।”

बच्चे ने एक बार अपनी अम्मी को देखा और फिर चुपचाप बाल्टी उठाकर बाहर चला गया। लेकिन बहुत देर हो चुकी थी। सब लोग दूध बाटकर अपने-अपने काम में लग गए थे। रास्ते में उसके साथी हँसते-हँसते लौट रहे थे और वे बाल्टी दूध से भरे चले आ रहे थे। उन्होंने उसे देखा और अचरज से कहा, “अरे! तुमने बहुत देर कर दी। तुम अब तक कहां सो रहे थे? अब तो सब दूध बंट चुका है, मिया, अब जाकर क्या करोगे?”

अहमद सुनता और उसका दिल बैठने लगता। लेकिन उनकी बात ठीक थी। वह जिस दरवाजे पर जाता, वहां फर्श पर पड़े दूध के छींटों के अलावा कुछ नहीं मिलता। तब सचमुच उसका दिल भर आया। आंखें नम हो उठीं। लेकिन फिर भी उम्मीद की डोर पकड़े वह आगे बढ़ा चला गया कि अचानक एक दरवाजे पर किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा, “अहमद! अहमद!!”

अहमद ने रुककर देखा—पुकारने वाला उसके स्कूल का साथी दिलीप है। वह उसी की जमात में पढ़ता है। उसकी आवाज सुनकर अहमद ठिठक गया। दिलीप दौड़कर आया, “तू अब तक कहां था? तेरी बाल्टी खाली है।”

अहमद की आवाज भारी रही थी। उसने कहा, “अम्मी बीमार हैं, मुझे देर हो गई।”

“तो!”

“दूध बिलकुल नहीं है?”

“ना।”

फिर कई पल तक वे दोनों उसी दरवाजे पर, जहां आध घंटा पहले दूध लेने वालों की आवाज गूज रही थी, चुपचाप खड़े रहे कि अचानक दिलीप को कुछ सूझा। वह अंदर दौड़ा गया। जाते-जाते उसने कहा, “तू यहीं ठहर, मैं अभी आया।”

अंदर वह सीधा अपनी मां के पास पहुंचा और धीरे से बोला, “भाभी! कुछ दूध और है क्या?”

उसकी मां बोली, “हां, है। तेरे और मुन्ने के लिए है। तू पिएगा?”

“नहीं।”

अचरज से मां बोली, “तो?”

दिलीप नहीं बोला।

“अर, बात क्या है? बता तो।”

“अहमद को दूध नहीं मिला।”

“कौन अहमद?”

“वह मेरे साथ पढ़ता है। उसकी मा बीमार है इसलिए उसे देर हो गई।”

कहते-कहते दिलीप ने अपनी मा को ऐसे देखा जैसे उसने कोई कसूर किया हो। पर मा का दिल खुशी से भर आया। वह मुसकराई। उसने दूध का भरा लोटा उठाया और कहा, “चल बता, कहां है तेरा दोस्त।”

दिलीप ने तब खुशी की छलांग लगाई। मा-बेटे दरवाजे पर आए। अहमद उसी तरह खड़ा था। दिलीप ने हँसते-हँसते कहा, “अहमद। बाल्टी ला। जल्दी कर।”

दिलीप के लोटे का दूध अहमद की बाल्टी में क्या आया उसकी मोहब्बत अहमद के दिल में समा गई।

मां ने पूछा, “तेरी मां बीमार है?”

“जी।”

“तो सेवैया कौन बनाएगा?”

“वही बनाएगी।”

“अच्छा, हमें भी खिलाएगा न?”

अहमद ने सिर हिलाकर कहा, “जरूर।”

मां हँस पड़ी। बोली, “भगवान् तेरी मा को जल्दी अच्छा करेगा। जा, घर जा। जल्दी आता तो और भी दूध मिलता।”

और फिर दिलीप का हाथ पकड़कर उसकी मां अंदर चली गई। उसका दिल बार-बार यही कह रहा था, “परमात्मा मेरे बच्चे का दिल सदा इसी तरह खुला रखे।”

उधर अहमद फूला-फूला घर आया। दरवाजे में घुसते ही उसने पुकारा, “अम्मी! मैं दूध ले आया।”

फातिमा खिल उठी, “ले आया? बहुत अच्छा बेटा! कहां से लाया?”

अहमद खुशी से बोला, “अम्मी! बहुत देर हो गई थी। सब दूध बंट चुका था, लेकिन दिलीप ने अपनी मा से जाकर कहा और फिर वह मुझे इतना दूध दे गई।”

फिर एकदम बोला, “अम्मी। दूध थोड़ा तो नहीं है?”

“बहुत है, मेरे बेटे। इतना ही बहुत है।”

“हां अम्मी। सब दूध बंट चुका था। यह उसके अपने पीने का दूध था।”

“अपने?”

“हां, अपने और छोटे भाई के। जरा-सा रखकर सब उसने मुझे दे दिया।”

फातिमा का दिल भर आया। गद्गद होकर बोली, “खुदा उसका भला करे। उसने गरीब की मदद की है।”

और फिर उन्होंने खुशी-खुशी ईद मनाने की तैयारी की। फातिमा का बुखार

हलका हो चला। उसने अहमद को नहलाया और कपड़े बदले। किमी तरह वह उसक लिए कुरता-पाजामा तो नया बना सकी थी, पर जूता पुराना ही था। उसे तेल में चुपड़कर चमका दिया और टोपी पर नई बेल टाक दी। अहमद खुश होकर बाहर साथियों में चला गया। नमाज पढ़ने जाना था और उसके बाद मेला भी देखना था। सबकी जेबों में पैसे खनखना रहे थे। सबकी आंखें चमक उठी थीं। सबके मन उछल-उछलकर मिठाई और खिलौनों की दुकानों पर जा पहुंचे थे। अगरचे अहमद के पास बहुत कम पैसे थे, पर क्या हुआ, उसके दिल तो कम खुश नहीं था। कम होता क्यों, अम्मी ने उसे बताया था कि अब्बा दिसावर गए हैं बहुत रुपये लेने। अगली ईद पर लोटेगे जैसे नियाज के अब्बा लौटेंगे थे। यह क्या कम भरोसा था। इसी भरोसे को लेकर वह ईदगाह पहुंचा। वहां उसने हजारों इंसानों को एक साथ नमाज पढ़ते देखा। उसके बाद उसने मेले की सैर की। चाट, मिठाई, फल, खिलौने सभी तरह की दुकानों की उसने पड़ताल की। उसने साथियों को झूलते देखा, पर वह तो सब कुछ अगले साल के लिए छोड़ चुका था। इसीलिए जो कुछ पैसे अम्मी ने उसे दिए थे उन्हें ठिकाने लगाकर वह घर लौट आया। देखा सेवैया बन चुकी हैं। गरम-गरम, लंबी-लंबी सेवैया उसे बड़ी खूबमूरत लगी। बीच-बीच में गोले की फाक पड़ी थी। शक्कर की वजह से दूध कुछ पीला हो गया था। उसका दिल बाग-बाग हो उठा। फातिमा ने प्यार से उसे देखा और कहा, “मेरे बच्चे। जा कटोरा ले आ और खाला के घर सेवैया दे आ। फिर मामू के घर जाना और फिर ”

अहमद बोला, “सबके घर देते हैं?”

“हां बेटा। वे भी तो हमें भेजेगे।”

“अच्छा अम्मी, मैं अभी दे आता हूँ।”

और फातिमा ने दोनों कटोरो में सेवैया भरी और उन पर रूमाल ढक दिया कि कहीं चील झपट्टा न मार ले। अहमद पहले एक कटोरा उठाकर चला, लेकिन जैसे ही वह दरवाजे से बाहर हुआ उसे एक बात याद आ गई। सेवैया सबसे पहले दिलीप के घर देनी चाहिए। उसने मुझे दूध दिया था, अपने हिस्से का दूध।

“बस, उसने अपना रास्ता पलटा। खाला के घर न जाकर वह दिलीप के घर की ओर चला। सोचने लगा, अम्मी सुनेगी तो बड़ी खुश होगी। बेचारी बीमार है। इसलिए दिलीप का नाम भूल गई। नहीं तो । यही सोचता हुआ वह खुशी-खुशी दिलीप के घर पहुंचा। दरवाजा बंद था। कुछ देर असमजस में सकुचा हुआ खड़ा रहा, फिर हिम्मत करके आवाज दी, “दिलीप।”

कोई नहीं बोला।

फिर पुकारा, “दिलीप।”

इस बार किसी ने जवाब दिया, “कौन है?”

और साथ ही कहने वाला बाहर आ गया। वह दिलीप का बड़ा भाई था। उसने

अचरज स अहमद को दखा आर पृछा, क्या चाहते हा।

अहमद झिझका, फिर सभलकर बोला, “दिलीप हे?”

“नहीं।”

“उसकी मा?”

“मा? मा से तुम्हारा क्या मतलब?”

अहमद ने कहा, “मेरा नाम अहमद है। मैं दिलीप के साथ पढ़ता हूँ। सवेरे उसने मुझे अपने हिस्से का दूध दिया था।”

दिलीप का भाई मुसकराया। तब तक दिलीप की मा और चाची भी वहा आ गई थी। भाई ने कहा, “तो फिर?”

“जी सेवैया लाया हू। इन्होंने (मां को बताकर) कहा था कि ”

अहमद अपना कहना पूरा करे कि दिलीप के भाई बड़े जोर से हँस पड़े, कहा, “भोले बच्चे। जाओ, अपने घर लौट जाओ।”

चाची बोली, “हम क्या तुम्हारी सेवैया खा सकते है? हमें क्या अपना ईमान बिगाडना है।”

मा ने निहायत नरमी से कहा “बेटे! मैंने तुमसे मजाक किया था। हम तुम्हारे घर की सेवैया नहीं खा सकते।”

अहमद एकदम सकपका गया। उसके छोटे-से दिल पर चोट लगी। फिर भी उसने हिम्मत बांधकर कहा, “क्यों नहीं खा सकते? हमने भी तो आपका दूध लिया था।”

अब भाई ने उसे समझाया, “बच्चे। तुम बहुत अच्छे हो। परमात्मा तुम्हें खुश रखे। लेकिन हम हिंदू हैं, और हिंदू लोग तुम्हारे हाथ का छुआ खाना पाप समझते है।”

अहमद पाप-पुण्य नहीं समझता था। उसे हिंदू-मुसलमान के इतने गहरे भेद का अभी तक पता न था। वह सिर्फ दिलीप और उसकी मा की मोहब्बत की बात सोच रहा था। लेकिन यह बात सुनकर उसका दिमाग चकराने लगा। वह खिसिया गया, और जैसे ही घर जाने को मुड़ा उसका हाथ कांपा। सेवियों से भरा कटोरा जोर की आवाज करता हुआ वहीं उसी चौकी पर गिर पड़ा, जिस पर सवेरे-सवेरे दिलीप और दिलीप की मां ने दूध के रूप में अपनी मोहब्बत अहमद के दिल में उडेल दी थी। सेवैया चारों तरफ फैल गई और अहमद की मोहब्बत पैरों से रौंदे जाने के लिए वहीं पड़ी रह गई

इतनी-सी बात

केशव

साझ के साये लंबे होने लगे थे। बस के 'ड्राइवर' ने अंदर की बत्तिया जला दी थीं। उस रोशनी में कुछ यात्री कुनमुनाए, कुछ पहले की तरह ऊधते रहे। कुछ ने अपने साथी यात्रियों पर दृष्टि डाली और फिर पहले की तरह आखें मीच ली। कुछ ही क्षण बाद बस में फिर स्तब्धता छा गई। बस, आते-जाते कुछ इक्का-दुक्का वाहनो की तेज आवाज उस सन्नाटे को चीर रही थी। उसके बाद फिर वही अपनी बस चलने की आवाज, वही झटकोले

कुछ ही क्षणों में हम एक सुनसान स्थान पर आ पहुँचे। और तभी वह अघटित घट गया। एक कड़कती हुई कर्कश आवाज गूँजी—“ड्राइवर, बस रोक दो।”

इस स्वर की कर्कशता से सभी यात्री हकबका गए। दृष्टि उठी, उन्हीं के साथी यात्रियों में से सात व्यक्ति बस के चारों कोनों पर बंदूके, पिस्तौले और चाकू ताने खड़े हैं। उनकी दृष्टि की क्रूरता उनके पूरे वजूद को आवृत किए थी। तभी दूसरा व्यक्ति चिल्लाया, “ड्राइवर। अगर तुम इसी वक्त नहीं रुके तो मैं तुम्हें चाकुओं से गोद दूंगा।”

बस का स्वर किंच-किंच करता एकदम बंद हो गया। कर्कश स्वर फिर गूँजा, “सब सवारियां अपनी-अपनी जगह बैठी रहे और जो कुछ भी पास है, निकाल ले।”

और सबसे पहले उसने डॉ. विनीता वर्मा से उसका पर्स झपट लिया। मेरे पास 500 रुपये थे, वे भी छीन लिए। कुछ ही क्षणों में उन्होंने किसी के पास कुछ नहीं छोड़ा। यात्री सब स्तब्ध जैसे किसी ने उन पर सम्मोहन कर दिया हो।

मुश्किल से तीस मिनट लगे होंगे। डाकुओं ने सब कीमती सामान एक गठरी में बाधा और नीचे उतर गए। जाते-जाते उनके सरदार ने आदेश दिया, “अब सब लोग आधा घंटे तक इसी तरह बैठे रहना।” यात्री तो सब जड़ हो चुके हो जैसे। मंत्रकीलित-से शून्य दृष्टि से देखते रहे। किसी ने भी उन्हें चुनौती नहीं दी। चुनौती का स्पष्ट अर्थ था मृत्यु।

और जीते-जी कोई भी आदमी मरना नहीं चाहता। हम सब इसी तरह खाली नजरों से उन्हें जाते देखते बैठे रहे कि तभी सहसा उनमें से एक डाकू का स्वर शून्य को कंपाता हुआ हमारे अंतर को चीर गया, “सरदार। इस खूबसूरत औरत के हाथ में कीमती घड़ी है।”

सरदार की आवाज कड़की, “घड़ी खेलोगे तो देर लगेगी। उसी को उठा लाओ।”

पहले डाकू ने तुरत उस महिला के दोनों हाथ पकड़े और नीचे उतारने के लिए खींचने लगा, तभी वह भयानक सन्नाटा एकाएक भंग हो गया। डॉ. विनीता वर्मा ने भयातुर, कंपित क्षण-भर तो उस डाकू का प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया फिर बुत बने सहायत्रियों की ओर याचना-भरी दृष्टि से देखा और करुण स्वर में बोल उठी, “मुझे बचाओ .मुझे बचाओ . ” और वह रो पड़ी।

उसके बच्चे का तो और भी बुरा हाल था। डाकू अट्टहास कर रहा था। मा-बेटा जोर-जोर से रोते हुए उसी तरह गुहार कर रहे थे और हम सब डकैतों की तनी पिस्तौलों के डर से प्रस्तर-प्रतिमा की तरह मौन थे। मैं जानता हूँ, हम सभी के भीतर तूफान थपेड़े मार रहा था, और मैं अनुभव कर रहा था जैसे किसी ने हम सबको अपने-अपने बैठने के स्थान पर कील दिया हो।

उसी क्षण उस आतंक और आर्तनाद में एक बार फिर आकाशवाणी की तरह एक चुनौती-भरा स्वर गूजा, “खबरदार। जो इस बहन को किसी ने छुआ भी। पीछे हट जाओ वरना...”

और इस दैवी स्वर के साथ ही मेरे पीछे की सीट पर बैठा एक तीस-बत्तीय वर्षीय युवक विद्युत की-सी गति से उस डाकू पर टूट पड़ा। और फिर गुत्थमगुत्था हो गए दोनों। तभी नीचे से सरदार की आवाज कड़की, “गोली मार दो साले को।”

वाक्य समाप्त होते न होते एक बदमाश की बंदूक गरजी और दूसरे ही क्षण न जाने कितने छर्रे उस युवक के शरीर में घुस गए। लहुलुहान होकर भी उसने उस लुटेरे को नहीं छोड़ा। दूसरे साथी उसकी मदद को आए। वे डर रहे थे कि बंदूक की आवाज सुनकर किसी भी क्षण आसपास के लोग या पुलिस आ सकती है।

इसलिए दूसरे ही क्षण वे सब तीर की तरह भाग खड़े हुए। डॉ. विनीता और उसका बच्चा अभी भी यह कहते हुए रोए जा रहे थे कि ‘ड्राइवर भैया इन्हें अस्पताल ले चलो, इन्हें बचाओ।’

पत्थर की मूर्तियों में जैसे प्राण लौटे। कुछ लोग तेजी से नीचे उतरे। सहेजकर उस युवक को बस में लिटाया। वह लगभग बेहोश था। कभी नजर उठती तो डॉ. विनीता वर्मा की ओर उठती फिर बेहोश हो जाता। डॉ. वर्मा उन बीते कुछ क्षणों में बुरी तरह टूट गई थी। वह किसी भी तरह कुछ भी करके उसे बचाने के लिए बार-बार प्रार्थना कर रही थी।

उस युवक का नाम किसी को नहीं मालूम था। जब तक बस चली वह पूरी तरह बेहोश हो चुका था। कुछ लोग उसके पास बैठे थे। कुछ चुपचाप उस अंधेरे में खिसक गए थे। मैं भी उन्हीं बहादुरों में था। मैं अपने अंतर में बहुत बेचैन था। पता

नहा बचेगा या नहा पर एक बार फिर उसने प्रमाणित कर दिया कि इनसान अभी मरा नहीं

बस तेजी से आगरा की ओर बढ़ रही थी पर मुझे अनबूझ पता नहीं था कि मैं हूँ भी या नहीं। हूँ तो कौन-सा मैं हूँ। मेरे सिर में तो अनहद नाद की तरह ये शब्द तेज-तेज गूँज रहे थे एक मुसलमान ने एक हिंदू औरत की अस्मत की रक्षा की। इतने हिंदुओं के सामने एक मुसलमान ने एक मुसलमान ने एक मुसलमान ने एक हिंदू औरत की अस्मत की रक्षा की।

जितनी तेजी से ये शब्द गूँज रहे थे, उतनी ही तेजी से मैंने पाया कि मैं भाग रहा हूँ, दौड़ नहीं रहा, भाग रहा हूँ।

डॉ. विनीता वर्मा

मुझे उनका नाम अस्पताल जाकर पता लगा, क्योंकि यह पुलिस केस था। कुछ यात्री भी रुके हुए थे। मैंने तुरंत अपने पति को खबर दी। वे परिवार के अन्य सदस्यों के साथ तभी आ गए। डॉक्टर ने पुलिस को बुलवा लिया था। उनके और मेरे बयान हुए। असलम जावेद नाम था उनका। उनके साथ बात करने को अभी डॉक्टरों ने मना कर दिया था। असलम जावेद रेलवे में इजनों की देखभाल का काम करते थे। उस दिन अपनी ड्यूटी पूरी करके ईद मनाने आगरा अपने घर जा रहे थे। मुझसे दो वर्ष बड़े थे। उनके घर में उनकी पत्नी आयशा और दो छोटे बच्चे—सात वर्ष का गुल मोहम्मद और पांच वर्ष की नाहिदा थी। मैंने तुरंत एक साथी को उनके घर भेजा। सुनते ही उनकी पत्नी पागलों की तरह रोती हुई अस्पताल आ पहुंची।

उसे लेने अस्पताल के बाहर मैं ही गई थी। उसने नजरे उठाई और मुझे देखा। मेरे लिए ही तो असलम भाई ने प्राणों का सौदा किया था। मैंने आगे बढ़कर उसे अपने मे भर लिया, “भाभी, तुम्हारे शौहर के कारण ही मेरी अस्मत, मेरी जिंदगी बच सकी है।”

आयशा ने भीगी नजरों से मुझे देखा, बोली “कैसे है वे? बच तो गए न।”

“बिलकुल बच गए। ऑपरेशन से डॉक्टर ने छर्ने बाहर निकाल दिए हैं। अब खून चढ़ाया जा रहा है। और यह भी अजीब संयोग ही है कि मेरे पति प्रो. हरीश का खून तुम्हारे शौहर के खून से मैच कर गया।”

आयशा के मुख पर पहली बार मुसकान की आभा देखी मैंने। वह कुछ कह पाती कि डॉक्टर ने आकर कहा, “अब, आप उनके पास जा सकती हैं।”

प्यासे चातक-सी हम दोनों अंदर की ओर दौड़ीं कि तभी दो नर्स पास से यह कहती हुई गुजरी कि एक हिंदू औरत की अस्मत और जिंदगी बचाने के लिए एक मुस्लिम युवक ने अपने प्राणों को खतरे में डाल दिया, पर शुक्र है भगवान का कि अब

वह खतरे से बाहर है!

हम दोनों ने सुना। एक बार तो मैं कांप गई। पर तब मैं 'मैं' कहा थी। आयशा के साथ भागती-सी अंदर पहुंची। आयशा का विचित्र हाल था। आंखों में आसू थे, चेहरे पर मंद-मंद मुसकान। वह एकाएक अपने पति असलम जावेद पर झुक आई, बोली, "कैसे हो तुम। बहुत दर्द तो नहीं है। डॉक्टर ने क्या कहा? मैं तो बस, मर ही गई थी। वह तो इन आपा..."

मन एकाएक भर आया। चुपचाप सिर पर हाथ फेरती रही, फेरती रही। आयशा बस, देखे जा रही थी। उत्फुल्ल, गद्गद्.

जावेद भाई ने हम दोनों को देखा फिर आयशा की ओर देखकर कहा, "मैं ठीक हूँ, बिलकुल ठीक। इनके शौहर का खून चढ़ा है। अभी कुछ दिन तो यहीं रहना होगा। तुम जरा भी फिक्र मत करना। देखभाल को मेरा एक और घर हो गया।"

"हा, हा, क्यों नहीं," मैं बोली, "मैं तुम्हारी बहन, वे तुम्हारे जीजाजी और हमारा बेटा तुम्हारा भानजा। वह तो पागलों की तरह रो रहा है। यही बैठा है मगर तुम बोलो नहीं। भाभी, तुम भी यही बैठो भैया के पास। मैं बाहर उन सबको देखती हूँ। अभी यहां किसी को नहीं आने देना है।"

आने-जाने वालों का उस दिन तांता लग रहा था पर मैंने घर वालों, कॉलेज के और असलम जावेद के खास दोस्त व रिश्तेदारों को छोड़कर सबको कल आने के लिए कह दिया।

एक प्रौढ़ा अचरज से बोली, "देखो जी, कैसी माया है। एक मुसलमान ने हिंदू औरत की इज्जत और जान बचाई।"

एक डाक्टर ने दीर्घ सास ली, मुझसे बोला, "बहनजी, अच्छे आदमी हैं अभी भी धरती पर। मुसलमान होकर उसने आपके लिए अपने प्राणों की परवाह नहीं की।"

एक मरीज खड़ा सुन रहा था, बोला, "क्यों बहनजी, क्या हिंदू भी थे बस में?"

एकाएक वजूद कांप गया मेरा, पर अपने को शांत रखते हुए बोली, "हिंदू क्यों नहीं थे! ज्यादातर वे ही थे पर डाकुओं की बंदूको, छुरों के आतंक से सब जैसे पत्थर के देवता बन गए थे। बस एक यही भाई..."

"हां बहनजी, देखो एक मुसलमान ने ही हिम्मत की।"

धीरे-धीरे सांझ के साये बढने लगे थे। प्रो वर्मा अब पूर्ण स्वस्थ थे। वे घर जा सकते थे।

आयशा भी घर जाकर लौट आई थी। दोनों बच्चे गुल मोहम्मद और नाहिदा भी साथ आए थे।

"इन्हें क्यों ले आई रात को, भाभी।"

ये ता-यादातर ड्यूटी पर रहत ह दाना राह देखत रहते हैं रात मे इनक साथ रहने क लिए आज तो और भी परेशान हैं और कल तो ईद है न कई दिन से हगामा मचा रखा था। पर ये तो घर भी नही आ सके थे " कहत-कहते आखे भर आइ आयशा की।

मै समझ गई मन में दर्द मेरे भी उठा था पर मै हँसकर बोली, "अरे भाभी। तो क्या हुआ? जहाँ भैया, वहीं घर। देखना, कल कैसे शान से ईद मनती है।"

आयशा ने मेरी ओर देखा। मैने मुसकराकर प्रो वर्मा से कहा, "आप जल्दी आइए, मुझे घर जाकर .."

प्राइवेट वार्ड का इतजाम प्रो वर्मा ने करवा दिया था इसलिए कोई परेशानी नहीं थी। मैने जाते-जाते एक बार फिर आयशा से पूछ लिया, "कुछ चाहिए तो बता दो। मे कल सबेरे आऊगी। और सब भी आएंगे "

और हम चले आए। और सब भी चले गए थे। रह गए थे वे चारो।

नर्स आकर सब समझा गई। मै द्वार तक पहुची ही थी कि एक पुरुष ने मुझे दिखाकर अपनी पत्नी से कहा, "ये ही हैं वे डॉ विनीता। इन्ही के लिए उस मुसलमान ने अपनी जान खतरे मे डाली।"

पत्नी बोली, "आदमी जैसा काम किया उसने। हिंदुओं ने तो अपनी मर्दानगी का मुह काला कर ही दिया था।"

बार-बार सुनती मै। कुछ कसक जाता अंतर में तो रोने-रोने को हो आती कि इसमें हिंदू-मुसलमान की बात कहां से आ गई!

तभी कांप उठी मै स्वयं, 'अनजान क्यों बनती हो! हम लोगों मे क्या यही बात महत्वपूर्ण नहीं है। जात-जात-जात। जैसे हम जात के अलावा और कुछ नहीं। मा-बाप, भाई-बहन, दोस्त. कहीं कुछ नहीं, इनसान कुछ नहीं '

मैं विमूढ़, अबूझ-सी चली जा रही थी, तभी कानो मे तेज आवाज गूंज उठी, "आज की सनसनीखेज खबर। रात एक बस पर डाकुओं ने हमला किया ।"

मैने तुरत अखबार खरीदा। बहुतों ने खरीदा। वह आवाज लगाता आगे बढ़ गया। मै पढ़ने लगी : "लुटेरे यात्रियों का सारा माल लूट ले गए। डॉ. विनीता भी उसी में थीं। उन्हें भी मारा। वह और उनका सात वर्षीय बेटा मदद के लिए चिल्लाए। उनकी मदद के लिए कोई आगे नहीं आया। लेकिन एक मुसलमान युवक गोलियो की परवाह किए बिना डाकुओं से गुत्थमगुत्था हो गया। डाकुओ ने गोली मारकर उसे घायल कर दिया पर शोर हो जाने के कारण पकड़े जाने के भय से वे भाग खड़े हुए। उस युवक का नाम असलम जावेद है। वह रेलवे में इंजीनियर है। डॉ विनीता लोगो की मदद से उसे आगरा अस्पताल लेकर आई। खबर पाकर उनके पति भी आ गए। असलम जावेद नाम का वह युवक अब खतरे से बाहर है। एक मुसलमान ने इंसानियत की जो

मिसाल कायम की है, वही हमें अधरे से बाहर लाएगी।”

खबर पढ़ चुकी तो लगा काश सवाददाता ने मुसलमान शब्द का प्रयोग न किया होता।

असलम जावेद

अगले दिन मेरी तबीयत और भी ठीक हो गई। इतने लोगो का आना मायने रखता है और आज तो ईद का दिन है। अस्पताल का यह प्राइवेट वार्ड विनीताजी ने किसी शादी वाले घर की तरह जगमगा दिया। मैं तो देखता ही रह गया। विनीता ने भोर के तड़के आते ही यहा का भार सभाल लिया। आयशा और बच्चों को घर भेज दिया। साथ में जो सामान लाई थी उसे भी सभलवा दिया, “देखो भाभी, आज मेरी एक बात रखनी पड़ेगी। मैं जो कपड़े लाई हूँ उन्हें ही पहनना एक बार। चाहे फिर उतार देना। और सेवैयां जरा जायकेदार बनाना, मैं भी बनाकर लाई हूँ।”

चकित-विमूढ़ आयशा बोल उठी, “आप क्या सारी रात काम करती रहें?”

“सच भाभी, रात काम करने में जो मजा आया, बता नहीं सकती बस, अब एक शब्द नहीं। जल्दी जाइए, बाहर गाड़ी खड़ी है।”

“गाड़ी?”

“हा, वह गाड़ी हमारी ही है। न, न, रात नहीं खरीदी। बहुत पुरानी है सैकड़ हैड।”

आयशा खिलखिला पड़ी, “आपा, आप तो बस ”

“बस नहीं, घर जाइए। वे आने वाले होंगे। मेरी मा भी आई है।”

मैं तो बस, देखता ही रहा। विनीता बोलने ही नहीं देती थी। पर अदर जो शोर मचा था, जो घमासान मचा था, उसे वह शायद ही जानती हो।

उसके बाद दो जश्न मने। एक मेरे घर पर और एक यहा अस्पताल में। मैं जानता हूँ, आज आयशा ने जी-जान से सजाया होगा घर को। मैंने तो बाद में देखा। विनीता आपा का लाया सामान देखकर वह तो देखती ही रह गई थी। उसके लिए कैसी बढ़िया रेशमी साड़ी, बच्चों के लिए ड्रेस, कुरता-पायजामा-टोपी, बिटिया का लहंगा-चुन्नी, कानों के बुंदे। बेटे का जूता भी खूब चमचमाता हुआ। दौड़-दौड़कर सब दोस्तो, रिश्तेदारो को दिखाते नहीं थक रहे थे वे दोनों। ढेर सारी मिठाई, फल, सेवैया। आयशा को बहुत कम चीजे बनानी पड़ी थी। बच्चे नमाज पढ़ने चले गए थे। बच्चों के मामा उन्हें अपने साथ ले गए।

नर्सों की मदद से मुझे नए कपड़े पहनाए गए। सच तो यह है कि इतनी खुशी में दर्द भी हँस पड़ा था।

सबने आकर अपने कपड़े दिखाए। आयशा दस्तरखा का इतजाम करती रही।

मेरे कमरे में बहुत कम लोग थे।

नमाज के बाद, खाने से पहले, विनीता सबको मेरे कमरे में बुला लाई, बोली, “सब बैठ जाए। अब मेरी ईद शुरू होती है।”

और उसने एक बहुत सुंदर चादी की तश्तरी निकाली। उसमें चावल और रोली रखकर पानी मिलाया। फिर एक सुंदर दिप-दिप कगती राखी निकाली। मेरे माथे पर टीका किया, बोली, “हाथ बढाओ।”

आयशा पास बैठी थी, जानती थी कि क्या करना है। उसने मेरा हाथ उठाया तो विनीता ने वह सुंदर राखी उस पर बांधकर मुसकराते हुए कहा, “अब बहन की हिफाजत का भार भाई पर है। पर उसने तो राखी बांधने से पहले ही अपना फर्ज निभा दिया। ईश्वर मेरे भाई को खुशियो से भरी लंबी जिंदगी दे।”

फिर उसने आयशा की ओर देखा, “तुम्हें खाली नहीं जाने दूंगी। तुम्हारे माथे पर यह बिंदिया चमकेगी।”

और उसने एक बहुत ही सुंदर बिंदिया उसके माथे पर चिपका दी। सचमुच आयशा का सुंदर चेहरा और हजार गुना दमक उठा था। विनीता ने हँसते हुए आईना उसका आगे कर दिया। आयशा ने आंख उठाई तो वह दो बच्चों की माँ, पागल-सी अपने ही चेहरे को किसी अजनबी की तरह देखती रह गई।

विनीता बोल उठी “भाभी बस, बस! अब जरा भइया को दिखाइए।”

आयशा लजा गई। सब खिलखिला पड़े। पर मैं तो सचमुच देख रहा था, देखता जा रहा था। जरा-सी बिंदिया की वजह से

तब तक विनीता ने दोनों बच्चों को भी राखी बांध दी थी। फिर सबको मिठाई दी कि तभी उसे पति आ गए। बोले, “कुछ पत्रकार है। असलम भाई से दो-चार सवाल पूछना चाहते हैं। पुलिस भी आई है। उसे भी कुछ पूछना है।”

मैं चौंक पड़ा, “मुझसे?”

“बस दो, चार..मैंने डॉक्टर की इजाजत ले ली है।”

“तब ठीक है, पर मैं ”

“अरे, भाई डरो नहीं। जो कुछ हुआ, सब बता देना।”

और वहाँ सहसा सन्नाटा-छा गया। सब संभलकर बैठ गए। चार पत्रकार आए और चार ही पुलिस वाले।

मुझे कुछ समझ नहीं आ रहा था। मुझसे प्रश्न किया गया, “हम जानना चाहते हैं कि आपने मुसलमान होकर एक हिंदू नारी के लिए अपनी जिंदगी को जान-बूझकर दाव पर लगा दिया, क्या सोचकर? कैसा लग रहा था तब आपको?”

मैंने सवाल सुना। कई क्षण अपने विचारों को बटोरता रहा, फिर बोला, “सारी कहानी आप पढ़ और सुन चुके हैं देख भी रहे हैं। मुझे बस, वही कहना है जिसके



बारे में मेरे सिवाय और कोई नहीं जानता। जिस वक़्त दरिदो ने इन बहन को खींचना और मारना शुरू किया और ये और इनका बेटा जोर-जोर से रोते हुए हर किसी से मदद के लिए गिड़गिड़ाने लगे, उस वक़्त जैसे एकाएक बादल गरजे हो और बिजली कड़कड़ाई हो। अचानक मेरी आंखों के सामने मेरी उस छोटी बहन का लहलुहान कटा-फटा बदन आ खड़ा हुआ, जो दो वर्ष पहले ईद के ही दिन ऐसे ही एक हादसे में मारी गई थी। उसे देखते ही मैं थरथराया, कांपा और चीख उठा—“मेरी एक और बहन नहीं मरेगी .।”

तभी एकाएक मैं बुरी तरह हांफने लगा। तब एक ओर से विनीता ने, दूसरी ओर से आयशा ने मुझे सभाला। उनके आसू टप-टप मेरे ऊपर एक साथ गिर रहे थे।

मैंने दोनों को परे हटाते हुए पत्रकारों और पुलिस की ओर देखा। कहा, “बस, इतनी-सी बात थी जिसका फसाना कर दिया आप लोगों ने।”

मुरब्बी

गाव के ठीक बीचोबीच उमकी दुकान थी। चारों तरफ नाना रूप टोकरिया सजाकर बीच में एक चौकी पर वह शहनशाह की तरह तनकर बैठते थे। चेहरे की झुर्रिया बुढ़ापे की साक्षी देने लगी थी और कहीं चोट खाकर एक पैर भी कुछ लगडा गया था। लेकिन आवाज की कड़क सदा आयु को धोखा दे जाती थी। हर दीवाली के दिन वह सबसे पहले जलेबियो का टोकरा लेकर भंगियो की बस्ती में पहुंचते थे। घर में जब कभी विवाह-शादी अथवा पुत्रोत्सव का अवसर आता तो सबसे पहले वह गाव के भगी-चमारों को दो-दो आने देते थे। हाथ से दान और मुंह से गाली देने में उनका सहज विश्वास था। हर गाली के साथ, 'राम थारा भला करे' कहना वह कभी नहीं भूलते थे। इसी शक्ति के बल पर वह गाव के मुरब्बी बन गए थे।

उस दिन पैठ का दिन था। छोटा-सा बाजार भीड़ से गुलजार था। चारों ओर से उठती आवाजों और धूल के कारण वातावरण में एक धुंधली गूंज पैदा हो आई थी। सहसा भीड़ में से किसी ने कहा, "मका राम-राम, नदू चौधरी! किंघे चले?"

चौधरी ठिठके फिर हँसकर बोले, "ओहो, शेखजी दिक्खे है। अजी, लौडिया के हाथ पीले करने हैं। सौदा-सुलफ लेने आया हूँ। तम सुनाओ, किंघे जाओ हो।"

शेखजी कुछ जवाब दें कि उस पार अपनी चौकी पर बैठे हुए मुरब्बी एकाएक पुकार उठे, "नदू भाई, नदू भाई होत। अरे मका सुनेगा भी, यार। यहाँ तो आ जरा।"

कंधे पर चादर डाले नदू चौधरी ने मुरब्बी को देखा। फिर पास आकर कहा, "राम, राम, मुरब्बी! दिके तुमको ही देक्खू था। लौडिया का ब्याह है ना, बरतन चाहिए।"

मुरब्बी ने गहरी आत्मीयता से कहा, "हां, हां, क्या डर है। अभी चलता हूँ और कपडा नहीं लोगे? राम थारा भला करे, तमाखू, चावल।"

नदू कुछ उत्तर दे कि इससे पहले ही श्रीधर पांडे आ पहुंचे। बोले, "मुरब्बी बढिया चावल चाहिए पांच सेर, क्या भाव है?"

जैसे किसी ने गाली दे दी हो, "क्या कहा, भाव? दिको घर वालों से भी कही भाव-ताव हो है। मंगल, ओ मंगल, अबे हराम के खाने वाले, सुनै नहीं। पीलीभीत वाला चावल तो ला। गुरु आए है। हां, हां, वही कोने वाली बोरी में है।"

पांडेजी बोले, "अजी मुरब्बी। पहले भाव बताओ।"

मुरब्बी मुड़े, "तो साफ-साफ कह दूँ। राम थारा भला करें, ढाई पा कम तीन

सेर का भाव है। लेकिन आपके लिए आधा पा कम तौल दूंगा .ओहो, हाजी करीमुद्दीन दिक्खे है, सलाम हाजीजी। खड़े क्यू रह गए? इधे बैठो ना। बढिया बासमती दिखारुं?"

हाजी साहब ने कहा, "बस, एक बार दिखा दो। बार-बार की बात मुझे अच्छी ना लगे।"

मुरब्बी के जैमे किसी ने चाटा मारा। तमककर बोले, "तुमने क्या बात कही, हाजी साहब। कभी खोट्टा माल दिया है क्या?"

हाजी साहब बोले, "नही, नहीं, यह मैंने कब कहा।"

मुरब्बी ने उसी स्वर मे कहा, "और केमे कहोगे? दिके थारे सहारे दुकान पे बैट्टा हू। पूछ लो गुरु से जो कभी उलटी बात कही हो। यह देखखो, यह है बासमती देहरादून का। सूँघो जरा। खुशबू है, खुशबू। कहे देता हूं कि कढाव मे डालते ही गिरह भर की न हो जाए तो नाम बदल देना। राम थारा भला करे।"

हाजी साहब ने सूँघते हुए कहा, "खुशबू तो हैं पर कुछ नई "

मुरब्बी फिर तिनक उठे, "क्या कहा? नई मालूम दे रही है। वही बात है। जैसी रूह, वैसे फरिश्ते। दिके हाजी साहब, दस साल से तो मेरी दुकान मे पडी है। ऐसी बासमती तो दीवा लेकर ढूँढो तो भी ना मिले। राम थारा भला करे, तुम हागे तीस-पैतीस के। जब थारे अब्बा जीवें थे, क्या नाम था उनका, बडे भले थे, क्या मजाल कभी दूसरी दुकान पे पैर रखा हो। दिके एक दफे माल नही आया था तो बोलें. 'मै तो दूसरे की दुकान का रास्ता ही नहीं जानता।' तब चचा खुद बाजार से सौदा लाए। और तुम कहो कि बासमती नई है। यह चालबाजी थारे साथ करूंगा। मूँछ मुंडा दूंगा कि कोई हराम का खाने वाला कह तो दे, बासमती पुरानी नहीं है। राम थारा भला करे, वह बात है .."

इसी बीच मे देवी खाना खाने के लिए कहने आ गया। बस, उबल पडे, "खाने की पड गई अभी से। हराम के खाने वाले। देखता नही कि दम मारने की फुरसत नही। जाकर कह दे कि खाने बिना काम नहीं अटकेगा। मै उट्टा तो शादियां अटक जाएंगी।"

पाडेजी हँसकर बोले, "लेकिन मुरब्बी, जीने के लिए तो खाना जरूरी है।"

उसी गहन गभीरता से उन्होने उत्तर दिया, "तो भी गुरु, सांझ तक रुके रहने मे कोई हर्ज नहीं है। राम थारा भला करे, यमराज को अभी मेरी जरूरत नहीं है। उसके कौन-सी औलाद बैठी है जो शादी रचानी पडे।"

एक कहकहा लगा और फिर धीरे से गायो के खुरो के साथ अधकार बिखेरती सध्या ने उस गांव मे प्रवेश किया। मुरब्बी काफी थक गए थे। पैरो की नसे सुन्न पड गई थीं। उन्हे सहलाते हुए मगल से बोले, "ओफफो भाई, अब जान मे जान आई। राम थारा भला करे, जैसे सारी दुनिया की शादिया इसी बार होंगी। खाना-पीना भी हराम हो गया। अच्छा, अब दुकान बढाना शुरू कर। अरे, देवी। ओ देवी, दीवा तो जला ला।

दिके इस आल म रखा ह

बोलते बोलते रुपये पैसो का ढेर सामने लगा लिया कहा हराम के खाने वाले कहवे हैं कि मुरब्बी इतना कमावें, कुल जमा सों रुपये भी तो नहीं आए दिक्खे क्या बचेगा? राम थारा भला करे, मुश्किल से दस रुपये। अरे हा, देवी, ओं देवी, दलाली का क्या रहा? कितनी दफा कहा, पैसे के मामले में यकीन नहीं किया करे, पर समझ मे ही नही आवे। राम थारा भला करे, कब समझोगे? क्या कमा के खाओगे? मका बिज्जू की तरह क्या देखे, जाके ला।”

वह गया ही था कि छोटा लडका राधे आ गया। बोला, “चच्चा, मै कल शहर जाऊंगा।”

“तो फिर?”

“फिर क्या? तमस्सुकों की मयाद गली जा रही है। नालिश करनी पड़ेगी। कोई साला ले के ना दे है। जरूरत के वक्त पैर पकड लें और फिर तोते की तरह आख फेर लें।”

मुरब्बी ने कहा, “सब सालो पै दावा ठोकना चाहिए।”

राधे बोला, “दावा तो ठोकूंगा ही, पर उनमे एक तमस्सुक मुनव्वर का भी है। थारा यार-बास है, कल को कहोगे कि पूछा भी नही।”

मुरब्बी के मुख पर सहसा कितनी ही हलकी-गहरी परछाइयां तेजी से उभरी लेकिन तुरंत ही धुंधला गई। उसी सहज कड़क के साथ जवाब दिया, “उसमें यार-बास क्या करेगा? राम थारा भला करे, रुपया लिया है तो देना होगा। नहीं तो नालिश करनी होगी।”

राधे बोला, “तब कल जाकर वकील को कागज दे आऊंगा।”

लेकिन जैसे ही उसकी पीठ फिरी, मुरब्बी जैसे चीख उठा, “ऊं हूं, थारा यार-बास है.. कहोगे पूछा भी नहीं पूछकर क्या कर लिया। मुझसे कहलवाना चाहता था? शर्म नहीं आई हराम के खाने वाले को। बाप से भी छल करे, लाला को पता नही कि मै उसे तब से जानूं हूं जब लाला पैदा भी नहीं हुए थे। गरीब किसान खेती करके पेट पाले है, ऐसा यार-बास कि झूठमूठ भी काम का पता लग जाए तो दिके भागा जावे। परार साल गंगा माई चढ आई थी, सब घाट बहा ले गई। पानी इतना गहरा कि हाथी डूब जाए। राम थारा भला करे, मदर का कुआं उसी ने अपने हाथों से खोदा था। बोला—‘वही हाथ अब भी हैं। रही जान की बात सो हाथ में नही, मन मे हो ’ ”

मंगल ने धीरे से कहा, “अब तो रोटी ले आऊं?”

वह चौक पड़े, “क्या कहा? हां, हां, ले आ। सवेरे का भूक्का हूं। देख परांवठों में अजवायन डलवा देना और हां, चूरन लाना मत भूल जाना। अरे मेरे यार चला जावे है। बात तो सुन लिया कर दिके मुनक्का खतम हो गई, लेते आना। भूलना मत। अब खड़ा-खड़ा क्या देखे है। राम थारा भला करे, जा, दौड के जा।”

मंगल गया तो घास वाली ने आवाज़ दी, “मुरब्बी। घास नहीं लोगे?”

एकदम जवाब दिया, “नहीं।”

और जैसे दूसरे ही क्षण कुछ याद आ गया हो पुकार उठे, “घास वाली। अरी ओ घास वाली। सुनती नहीं। एक ही गठडी है?”

घास वाली ने वहीं से जवाब दिया, “आजकल घास मिले कहा। ये ही मुश्किल से लाई हू। पेट तो भरना है। राम बरसता ही नहीं।”

“बरसेगा, जरूर बरसेगा। और राम क्या करें, करम भी तो हम खोदते करने लगे हैं। उसका कोष ही तो है कि जानवरों के लिए घास नहीं। जा, जा, डाल जा। राम थारा भला करे, लौटती बार पैसे ले जाना।”

घास वाली गई तो देवी की ओर देखकर बोले, “देखा देवी, न्यार की कितनी मुसीबत है। अब की बार मुनव्वर के खेत में कुछ नहीं हुआ, नहीं तो क्या वह न्यार पर पैसे डालने देता। क्या हुआ जो रुपये नहीं दिए। अरे, तमस्सुक पलट देता, पर मैं तो कहूंगा ही नहीं। क्यों कहूं?”

मंगल खाना लेकर आ गया तो पैसे संभालने का भार देवी को सौंप दिया। खाते-खाते इधर-उधर मुस्तैद कुत्तों को पुकारने लगे, ‘तो तो तो तो ले ले, अरे, ले भी। वह देख, वह तेरे पा के पीछे पड़ा है। हट.. हट, अरे परे हट, बस, वही . वही खड़ा रह।”

यह लुका-छिपी चल रही थी कि मुनव्वर आ गया। सिर पर मोटा साफा, बदन पर फटी मिरजई और घुटनों तक की धोती और आंखों में निरीहता। बोला, “रोट्टी खा रहे हो, मुरब्बी! बहुत देर कर देते हो।”

मुरब्बी ने जवाब दिया, “आजकल तो यही रोना है, भाई। ब्याह न जाने किस-किसके होंगे, पर मुसीबत मुझे उठानी पड़े।”

मुनव्वर हँस पड़ा। फिर दो क्षण तक कोई किसी से नहीं बोला। मुरब्बी ने ही वह चुप्पी तोड़कर पूछा, “कैसे आए थे?”

एक क्षण सोचते हुए मुनव्वर ने जवाब दिया, “सुना है, छोटे लाला नालिश करने जा रहे हैं। इस फसल रुक जाते तो ”

मुरब्बी ने जोर से हुंकारा भरा। कहा, “तो?”

मुनव्वर उसी तरह बोला, “दिके, तुम उसे जरा कह देखते।”

मुरब्बी ने एकदम जवाब दिया, “मैं कहूं? नहीं। मैं कुछ नहीं कहता! राम थारा भला करे, मैं किसी के झगड़े में नहीं पड़ता।”

मुनव्वर सहसा हतप्रभ-विमूढ़ बोल नहीं सका। एक क्षण की थका देने वाली स्तब्धता के बाद मुरब्बी ने ही फिर कहा, “लेकिन तू रुपये दे क्यों नहीं देता?”

मुनव्वर धीरे से इतना ही बोला, “ये तुम कहोगे? होते तो क्या नहीं देता?”

मुरब्बी ने फिर दृष्टि उठाकर उसे देखा और निर्लिप्त भाव से कहा, “तो मैं क्या

करूँ? मंगल, ओ मंगल! पानी ला भाई और ये बग़तन हटा।”

और फिर पानी पीते-पीते बोले, “देख, कहीं से कुछ हो सके तो किसी तरह से कुछ रुपये दे जा। बात टल जाएगी।”

मुनक्कर ने कुछ कहना चाहा, पर ‘मुरब्बी’ के अतिरिक्त मुँह से कुछ निकला ही नहीं। जैसे दिल कुछ ठंडा होने लगा हो। कुछ देर शून्य में खोया-खोया सिर झुकाए खड़ा रहा और फिर चुपचाप चला गया। उसके जाते ही मुरब्बी ने तेज होकर मंगल से कहा, “गया तो जाने दे। हाँ, जरा देख के पानी डाल। दिन-भर हाथ-मुँह धोने की फुरसत नहीं हो, कितने गंदे हो गए हैं। और राम थारा भला करे, आज तो आख भी कड़वा रही है। घर जाकर बड़ी बहू से सुरमा ले आना। राम थारा भला करे, समझ गया न?”

मंगल ने अनमने भाव से पूछा, “आज ही लाए?”

और भी तेज होकर बोले, “और क्या कल लाएगा। आँख तो आज कड़वा रही है। हराम के खाने वाले, तुमसे कुछ नहीं होता। जरा-जरा-सा काम भी कह के करवाना पड़े। बैठ यहीं, मैं खुद जाता हूँ। कहा गया वो देवी? सब माले भाग जाते हैं। किसी का काम में जी नहीं लगे। मेरी लकड़ी कहा है? दिके बिछौना बिछा देना और जो बचा-कुचा सामान पड़ा है, उसे भीतर रख देना। राम थारा भला करे, दिके खाली मत बैठना।”

फिर उठते-उठते बोले, “और खाट के पास पानी रख देना। थैली तकिए के पास। राम थारा भला करे। अबे, मुनक्का ले आया था और चूरन?”

मंगल ने जवाब दिया, “जी हाँ, सब ले आया था।”

“तो मैं अभी आता हूँ।” यह कहकर मुरब्बी घर की ओर चले गए। बहुत दूर नहीं था। लेकिन रात का सन्नाटा उस बड़े गाँव को अपने अंतर में समेट चुका था। जैसे आधी रात बीत गई हो। कहीं कोई कुत्ता भौक उठता या दूर गीदड ‘ह्वा-ह्वा’ करने लगता। आकाश में कोई तारा टूटता और कहीं हुक्का गुडगुडाने की आवाज होती। कभी कोई अकेला आदमी तेज-तेज कदम निकल जाता तो कभी दो-तीन व्यक्ति जोर-जोर से बोलते हुए सन्नाटे की नींद हराम कर देते। क्षणिक तूफान की तरह सारा वातावरण अजीब-सी सोधी-सड़ी गंध से भरा था। देवी की माँ घर के भीतर के दलान में बैठी सूत अटोर रही थी। आयु पैंतीस वर्ष के आसपास, लेकिन देखने में तीस की भी नहीं लगती थी। सदा मुसकराती और काम में लगी रहती। देवी को आया देखकर उसने पूछा, “आज गया तू? तेरे बाबा ने खाना खा लिया?”

देवी ने जवाब दिया, “खा रहे थे। पर भाभी! आज उनकी तबीयत कुछ खराब है। बहुत देर तक आप ही आप बोलते रहे।”

प्रभा हँस पड़ी, “अरे, यह तो उनकी आदत है।”

देवी ने रहस्य की बात बताने की मुद्रा में कहा, “ना, भाभी! आज तो उनकी

आखो में पानी आ गया था। बार-बार मुनव्वर की बात करे थे। शायद चच्चा के उस पर रुपये चाहिए।”

निमिष मात्र में जैसे सब कुछ पारदर्शी हो उठा। बोली, “तो ये बात है। मैं जानू हूँ। तेरे चाचा विष की गांठ हैं। नालिश-वालिश की बात होगी।”

सहसा उसी समय दूर से खट्-खट की आवाज पास आती चली आई। उसी के साथ बहता चला आया एक स्वर, “बेटी, ओ बेटी।”

प्रभा हड़बड़ाकर उठी, “तेरे बाबा दिक्खे हैं। जरूर कोई बात है। बिना बात वह घर नहीं आते। तीज-त्यौहार या बीमार होने पर ही आते हैं।”

तब तक मुरब्बी पास आ गए थे। प्रभा ने पूछा, “कैसे आए? तबीयत तो ठीक है?”

एक पल वह चुप खड़े रहे। फिर बोले, “दिके बेटी, मेरी गल्लक में कितने रुपये हैं?”

प्रभा ने अचक्काकर उनकी ओर देखा, “अभी परसों ही तो आपने सौ रुपये मगवाए थे। हाथ खुला रखने पर क्या रुपया जुड़े है।”

मुरब्बी जोर से हँस पड़े, “राम थारा भला करे, बेटी। वो बात है कि हाथ खुला रखो तो जुड़े नहीं, बंद रखो तो जर लग जाए।”

“लेकिन इस वक़्त आप रुपयों का क्या करोगे?”

“अब दिके, क्या बताऊँ? मुनव्वर ने राधे से तीन सौ रुपये लिए थे। चुका नहीं पाया। चुकाने चाहिए। पर फसल खराब हो गई। राम थारा भला करे, गरीब है। अब तमस्सुक की मर्यादा गली जा रही है।”

प्रभा बोली, “तो क्या हुआ! तमस्सुक बदला नहीं जा सके?”

मुरब्बी ने धीरे से कहा, “सके तो है, पर कहे कौन? राम थारा भला करे, उसने न माना तो? वो बात है कि नादान की दोस्ती जी का जंजाल। सोचूँ हूँ, क्यों झगड़े में पड़ें, पर वो भी तो वक़्त-बेवक़्त हाथ बांधे हाजिर रहे। राम थारा भला करे, गाय कैसी असील खरीदवा दी। चाहे बच्चा दूह ले। खिलाई अच्छी होगी तो आठ-दस सेर दूध ले लेना।”

बोलते-बोलते वे जैसे कहीं खो गए। स्वर धीमा पड़ता गया। कहा, “दिके, जब मैं फेरी लगाऊँ था तो यही एक आदमी था जिसने मदद दी थी। महीनों उसकी झोपड़ी में दुकान लगाई। राम थारा भला करे, बेटी, हराम का खाने वाले, ये क्या जाने। वो बात है, जिसके पैर न फटे बिवाई, वो क्या जाने पीर पराई।”

प्रभा ने पूछा, “आपको कितने रुपये चाहिए?”

“अभी तो सौ से काम चल सकता है। दिके बेटी, तेरी सास के बक्स में गुलुबंद पड़ा होगा।”

प्रभा एकाएक आपादमस्तक सिहर उठी, “वो तो भाभीजी का है। उसका आप

क्या करग? ठहारए म अभी आई

मुरब्बी ने बैठते बैठत कहा हा हा बैठा हू तू गुलुबंद ले आ राम थारा भला करे, किसी से कहने की जरूरत नहीं है।

वह तब तक जा चुकी थी। लंबी सांस लेकर कई क्षण मुरब्बी अपने-आप से बातें करते रहे, बड़बड़ाते रहे। जब लौटकर आई तो वह एकाएक चौक पड़े, “राम थारा भला करे, ले आई गुलुबंद?”

प्रभा ने शांत स्वर में कहा, “जी गुलुबंद तो नहीं, सौ रुपये हैं। मेरे पास थे। जब आपकी गुल्लक में हो जाएंगे तो रख लूंगी।”

मुरब्बी हतप्रभ, अनबूझ सहस्र युगो जितने एक पल में उसे देखते रहे। जब संज्ञा लौटी तो पुकारा, “बेटी।”

लेकिन प्रभा तो अब वहां थी नहीं। राधे था जो तेजी से आता हुआ सहसा उनसे टकरा गया था। एकदम बोला, “चच्चा तुम यहां? मका जी तो ठीक है?”

मुरब्बी ने एकाएक अकड़कर कहा, “जी साला कहा जावे? वो तो तेरा ही पता नहीं लगे। ले संभाल, बुढापे में इस मुनब्बर ने जान आफत में डाल दी है।

राधे हतप्रभ-सा बोला, “दिके, समझा नहीं।”

मुरब्बी ने और भी शेर होकर कहा, “समझने की इसमें क्या है? नालिश करने को जा रहा था न, वही सौ रुपये दे गया है। बहुतेरा कहा कि मुझे बीच में न फांस, पर तेरे सामने आते ही उसकी नानी मरे। अब भाई गिन ले। किसी साले का एतबार नहीं। राम थारा भला करे, मैं चला।”

और यह कहकर वृद्ध मुरब्बी लकड़ी से खट-खट करते हुए वहां से चले गए। अकखड राधे भौंचक कभी रुपयों को देखता कभी उनके जाने की दिशा की ओर। खट-खट की आवाज निरंतर धीमी पड़ रही थी, लेकिन अंतर का तूफान उतना ही तीव्र होता आ रहा था।

सफर के साथी

आजकल सफर करना भी कौन चाहता है, पर अक्सर बात ऐसी बन जाती है कि इनसान मजबूर हो जाता है। इसलिए जब मैं स्टेशन पर पहुंचा तो अपनी मजबूरी पर काप-काप आया। मालूम हुआ कि कल्कि भगवान् अवतार लेकर इसी ट्रेन से पधारने वाले हैं, क्योंकि सारा नगर उनका अभिनंदन करने के लिए वहा मौजूद था। मैंने किसी तरह अगली पंक्ति में आकर सांस ली तो बेतहाशा मेरे मुंह से निकला, “इत्ते आदमी।”

तभी मेरे पास खड़े एक सज्जन बोले, “अभी से। अभी तो जनाबे वाला, गाड़ी आने में दो घंटे की देर है।”

“दो घंटे?”

“जनाबे वाला।”

“आप गलती पर हैं। एक्सप्रेस पौने नौ बजे छूटती है और अब साढ़े आठ बजे है।”

“साढ़े आठ,” वे अचकचाए और फिर फुती से जेब से घड़ी निकालकर बोले, “लाहौल बिलाकूवत। मेरी घड़ी में सात बजे हैं। शायद बंद है, अजीब मुसीबत है, जनाब! पूरे तीन घंटे से स्टेशन पर मौजूद हूं।”

मैं हँस पड़ा, “माफ़ करिए, आप शायद गाड़ी मिस कर गए हैं। इससे पहले मेल जा चुकी है।”

वे भी हँसे, “बेशक, बेशक आप ठीक़ फरमाते हैं, लेकिन आपने मेल देखा नहीं है। एक की जगह पर तीन मुसाफिर बैठे थे। और ऊपर से मजा यह कि उनकी गोदियों में भी लोग तशरीफ़ रखते थे।”

वे आगे कुछ कहते कि भीड़ में एक कोलाहल उमड़ पड़ा। अनेक कठ एक साथ पुकार उठे, “गाड़ी आ गई,” “गाड़ी आ गई।” अब क्या था, एक तूफ़ान पैदा हो गया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि समुद्र की लहरे बड़ी तेजी से स्टेशन को निगलने के लिए उमड़ पड़ी है और मैं उस अपार जन-समूह के साथ उनकी लपेट में फँसकर बहा चला जा रहा हूँ। कुछ सूझ नहीं पड़ रहा है। इनसानों की तसवीरे जल-जतुओं की तरह इधर-उधर दौड़ रही हैं। तभी किसी ने जोर से हाथ का बैग छीन लिया, “अरे बाप रे।” मैं काप उठा कि उसी वक़्त कोई चिल्लाया, “लाला साहेब। इधर आइए, इधर।”

मैं चौंककर हडबड़ाया तो देखता क्या हूँ, वही सज्जन पसीने से लथपथ खिड़की से झुककर चिल्ला रहे हैं, “ओ लाला साहेब। आइए, आइए।”

बस, फिर क्या था, मैं खिड़की में से भीतर खींच लिया गया। दरवाजे पर बराबर फौजदारी चल रही थी। न तो उतरने वाले उतर सकते थे और न चढ़ने वाले चढ़ सकते थे। मैंने सांस लेकर अपने चारों तरफ देखा तो पता लगा कि मेरे साथी (जिन्हें अब मैं मौलाना कहूंगा) सामने ऊपर की बर्थ पर मेरे बिस्तर को सिर के नीचे और सूटकेस को पैरों के नीचे दबाए बड़े इत्मीनान से लेटे हैं। बाकी गाड़ी में एक अजीब दृश्य है। कुल 40 सीटों के लिए 85 इंसान हैं। उनमें भी तीन-चार फौजी हैं, जो मौरूसी हकदारों की तरह पैर फैलाए लेटे हैं। कुछ दरवाजों के साथ दीवार से मट गए हैं। कुछ ने पैरों के नीचे जगह ढूंढ़ ली है। कुछ अभी तक खड़े-खड़े चिल्ला रहे हैं और जब तक गाड़ी चलेगी, चिल्लाते रहेंगे। मैं जहां खड़ा था, वही बैठने लायक जगह थी, इसलिए चुपचाप वही बैठ गया। मौलाना ने मुझे देखा और कहा, “लाला साहेब। सामान कब्जे में है। इत्मीनान से बैठ जाइए।”

मैंने हँसकर कहा, “शुक्रिया।”

वे बोले, “अरे साहब, शुक्रिया की आपने खूब कही। वह देखिए तो आपके पीछे कौन साहब हैं, खींच लीजिए ऊपर हां, हां हां.. हां..” मैंने देखा कि तुर्की टोपी पहने एक नौजवान बड़ी आजिजी से कह रहे हैं, “आने दीजिए जनाब। बहुत जरूरी सफर है। वक्त तग है।” दरवाजे पर कृपाणधारी सरदारजी मौजूद थे। बड़ी लापरवाही से बोले, “यहां जगह नहीं है, आगे जाइए, आगे।”

“अरे सरदारजी..”

“आगे जाइए..”

कि तभी मौलाना फुर्ती से ऊपर से कूद पड़े और बड़ी बेतकल्लुफी से उन मौलवी साहब को खिड़की से अंदर खींच लिया और बोले, “अजी सरदार साहेब। सभी को जाना है। खड़े-खड़े चले जाएंगे।”

गाड़ी भी चल पड़ी। मैदान आया, हवा लगी, मुरझाए हुए दिल खिल उठे और मुसाफिरों ने आराम की सांस खींची। कुछ आपस में बातें करने लगे, कुछ ने दीवार से सिर लगाकर आंखें मीचीं, कुछ अखबार या किताबें पढ़ने में मशगूल हो गए। फौज के सिपाही जेब में से बिस्कुट निकालकर चबाने लगे। मेरे पास ‘विश्ववाणी’ का ‘चीन अंक’ था, मैं उसी को पढ़ने लगा और सोचने लगा कि जापान का मुकाबला करने के लिए हमें चीन से बहुत कुछ सीखना पड़ेगा। न जाने कब तक इसी सोच-विचार में पड़ा रहा कि अचानक मुझे लगा, हमारे डिब्बे में बड़ी तेज शरीफाना बहस छिड़ गई है। मैंने पत्रिका हटाकर उस ओर ध्यान दिया तो पता लगा कि मौलवी साहब बड़ी सजीदगी से हमारे मौलाना को समझा रहे थे, “जनाब। आप भूलते हैं, ‘हिंदुस्तानी’ न कोई कौम है, न बन सकती है। इनसानी बिरादरियां कभी कौमियत पर नहीं बना करतीं, उनकी बुनियाद मजहब पर है। पैगंबर ने पहले ही यह ताक़ीद कर दी थी कि किसी भी मुल्क के हो, मुसलमान सब एक है। उन्होंने कहीं नहीं कहा कि अरब के

मुसलमान और गैर-मुसलमान सब एक है। उन्होंने इनसानो को हमेशा के लिए दो फरीको मे तकसीम कर दिया है—मोमिन और गैर-मोमिन।”

वे बोल रहे थे और मौलाना मेरे सूटकेस को पैरों में दबाए उनके मुंह की तरफ बड़ी लापरवाही से देख रहे थे। वे चुप हुए तो मौलाना ने बड़ी जोर से ‘हूँ’ कहा और चुप हो गए। मौलवी साहब फिर बोले, “कौमियत को आज भी कोई नहीं मानता। रूस की शोहरत आज कितनी है। उसी रूस को बनाने वाले लेनिन ने मजदूरों को इकट्ठा करने की जो स्कीम बनाई है, वह भी कौमियत की तरदीद करती है। उसने यही कहा है कि दुनिया के मजदूरों, यानी रूस, हिंदुस्तान, ईरान, फ्रांस आदि सारे मुल्को के मजदूरों, एक हो जाओ। उसके कहने के मुताबिक, हिंदुस्तान का मजदूर और रूस का मजदूर आपस में भाई है, जबकि रूस का मजदूर रूस के सरमायादार का दुश्मन है।”

मैं उनकी दलीले सुन रहा था कि उसी वक़्त अचानक स्टेशन आ गया। डिब्बे में फिर खलबली मच गई। मौलाना कूदकर नीचे आ गए और जो भी मुसाफिर उस डिब्बे में दाखिल होना चाहता था, उसे ऊपर चढ़ाने लगे। मौलवी साहब बोले, “वल्लाह, आप क्या करते हैं? कहा बिठाएंगे इनको?”

“अरे साहब,” मौलाना ने लापरवाही से कहा, “बैठ ही जाएंगे, आप भी तो बैठे हैं।”

ज्यों-त्यों कर गाड़ी ने सीटी दी और मौलवी साहब ने फिर फरट्टे के साथ अपनी दलीले शुरू कीं। लेकिन मौलाना उनकी बातों पर कोई ध्यान नहीं दे रहे थे। वे अपने सामने बैठे हुए मुसाफिरो में से एक काले से नाटे मुसलमान युवक को बड़े गौर से देख रहे थे, जो पिछले स्टेशन पर इस डिब्बे में चढ़ा था और स्टेशन से दूसरी तरफ, जिस तरफ बस्ती थी, मुंह करके दोनों हाथ फैलाए खड़ा ध्यान के साथ अल्लाह से दुआ मांग रहा था। वह चौड़ी काली किनारी का तहमत लपेटे हुए था। उसके कलफ किए हुए चिकन के कुरते से उसका काला बदन साफ चमक रहा था और उसके डरावने चेहरे से इनसानियत इस तरह झलक रही थी, जिस तरह काली रात में चांद झलकता है। वह इसी हालत में बड़ी देर तक दोजानू बैठा रहा। मौलाना तब तक बड़े गौर से उसे देखते रहे। गाड़ी में चिल्ल-पों मच रही थी। एक मारवाड़ी लाला बड़े जोर से एक भगी पर भड़क रहे थे। इसी बीच दुआ खत्म होने पर युवक ने दोनों हाथ अपने मुंह पर फेरे और खड़ा हो गया। मौलाना ने जरा मुलायमियत से उस जवान से पूछा, “मेरे दोस्त। आप बता सकेगे, उधर क्या है?”

नाटे युवक ने बड़ी बेतकल्लुफी से कहा, “किधर?”

“जिधर देखकर आप दुआ मांग रहे थे।”

युवक संजीदा हो उठा, “वह एक लंबी कहानी है।”

“तो सुनाइए न। दिल ही बहलेगा।”

युवक ने कहा, “वह दिल बहलाने की कहानी नहीं है, मौलाना, बल्कि दिल

पाक करन वाली दास्तान है

मौलवी साहब की उत्सुकता जागी, “किसी शहीद का मकबरा होगा?”

“जी हा, वह मकबरा ही है, लेकिन जिदा शहीद का है।”

मौलवी साहब चकराए। मारवाड़ी लाला चुप होकर उसे देखने लगे। फौजियो ने भी उधर आंखें फेरी, लेकिन मौलाना हँस पड़े, “आप तो जनाब पहेलिया बुझा रहे हैं। साफ-साफ बताइए यह किसका मकबरा है?”

अब उस नाटे जवान में बड़प्पन उभर आया। उसने कहा, “मौलाना साहब। यह ऐसी कहानी है जिस पर आज की दुनिया को एतबार नहीं आ सकता, लेकिन आप सुनना ही चाहते हैं तो मुझे कोई एतराज नहीं है। मैंने यह कहानी अपने अब्बा की जबानी कई बार सुनी है। जिस चबूतरे को आप मकबरा समझ बैठे हैं वह असल में मामूली चबूतरा है, जिस पर दिन के वक्त गरीब कूजड़े और माली साग-सब्जी बेचा करते हैं। अब्बा कहते थे कि उनके वक्त में इसी चबूतरे को लेकर कस्बे के हिंदू-मुसलमानों में सख्त तनातनी छिड़ गई थी। हिंदू कहते थे, यह चबूतरा हमारा है, हम इस पर कथा किया करेंगे। मुसलमानों का तकाजा था कि हम इस पर नमाज पढ़ते हैं और जिस जगह नमाज पढ़ी जाती है उस जगह के लिए मुसलमान अपना सिर देने में भी गुरेज नहीं करेंगे। इसको लेकर कई बार दोनों कौमों के कई बेगुनाह इनसानों का खून भी बहा और मुकदमे भी हुए। कई होनदार नौजवानों ने जेलों में अपनी जिदगी बरबाद की, लेकिन जैसा कि इन मामलों में हमेशा होता है, इस चबूतरे का फैमला न हो सका। हिंदुओं के सरगना कस्बे के एक मशहूर वैद्य ला सुदरलाल थे और मुसलमानों के नेता महबूब कमाई थे। दोनों संप्रदायों में जोश था, जुनून था और थी मजहब के लिए मर-मिटने की तमन्ना। सरकारी अफसर हमेशा की तरह कान में तेल डालकर बैठे थे, लेकिन रात को सोते समय हर शख्स यही चर्चा करता था कि कल न जाने क्या हो जाए और कितना खून बहे। बारिश होने से पहले दम घोट देने वाली गर्मी की तरह वह हालत सबको सता रही थी कि एक रात सचमुच ही सांप्रदायिक दंगे के बादल उमड़-घुमड़कर कस्बे पर छा गए..”

कहते-कहते युवक की आंखें चमकने लगीं। मौलाना के साथ अनेक निगाहे एक बार उस पर जा अटकीं। सबके दिल में अलग-अलग कौतूहल उठा, “आगे क्या हुआ?”

युवक कहता रहा, “लेकिन उसी रात एक अनहोनी घटना घटी। महबूब कसाई का इकलौता बेटा रमजान एकाएक सख्त बीमार हो गया। दो घंटे के अंदर ही उसका मुंह नीला पड़ गया और हाथ-पैर ठंडे हा आए। महबूब ने कलेजा थाम लिया। घर में कुहराम मच गया। उसकी बालदा ने बाल नाच डाले। पड़ोसियों के चेहरों पर मौत की खौफनाक तारीकी छा गई कि अचानक महबूब के एक चचा बोल उठे, ‘इसकी दवा एक ही आदमी के पास है।’

‘किसके पास?’ एक साथ कई आवाजे आई।

“चचा बोले, ‘कोई फायदा नहीं, क्योंकि तुम वहा तक नहीं पहुँच सकते। ला सुंदरलाल ही इस वक्त रमजान को बचा सकते हैं। उन्हीं के पास इस मर्ज की दवा है।’

“सुनकर बेहिसाब खामोशी छा गई। महबूब ने दोनों हाथों से मुँह ढाप लिया। तभी अंदर से खड़खड़ाहट हुई। रमजान की बालदा कह रही थीं, ‘मै जाऊगी!’ फिर भी कोई नहीं बोला। सब ब्रुत बने बैठे रहे। दुश्मन के आगे गिडगिडाना मौत के दर्द से हजार गुना गहरा दर्द है। महबूब के दिल में बार-बार उठा, ‘मेरा बेटा, मेरा इकलौता बेटा। आह खुदाबंद करीम। परवरदिगार। तू क्या चाहता है।’

“उसके दिल में कैसा तूफान उठ रहा था, यह वही जान सकता है जिसके खानदान की आखिरी लौ बुझने से पहले टिमटिमा रही हो। अंदर से फिर आवाज आई, ‘मै जा रही हूँ।’ कि एकाएक रमजान के अब्बा उठ खड़े हुए और बोले, ‘चचा। चलो, मै लाला सुंदरलाल से बेटे की भीख मांगूंगा!’

“चचा उठे, और भी कई आदमी साथ चले।

“बाहर सन्नाटे के साथ तारीकी गलबाही डाले सोई थी, लेकिन उसी की छाती पर पैर रखकर वे आगे बढ़े चले गए। तंग गलियाँ, गढों से भरे हुए चौक, फिर बिजली की रोशनी से चमकती हुई तारकोल से लिपी-पुती सड़कें पार करके जब वे लोग सुंदरलाल की कोठी के सामने पहुँचे तो उनकी बैठक की खिडकियों से होकर बिजली की तेज रोशनी सड़क पर बिखर रही थी। एक साथ कई आवाजें सुनाई पड़ रही थीं और उन सब आवाजों से ऊपर उठकर उनके पेंचदार हुक्के की गुडगुडाहट काफी दूर तक सन्नाटे को भंग करती हुई फैल रही थी। कस्बे के हिंदू नेता तनातनी के किस्से को लेकर बहस कर रहे थे कि दरवाजे पर दस्तक हुई। पूछा, ‘कौन है?’

“जवाब मिला, ‘महबूब।’

“‘महबूब?’ कई आवाजें बौखलाहट में एक साथ सुनाई दीं। हुक्के की गुडगुडाहट एकदम तेज होकर रुक गई। दरवाजा खुला। महबूब सीधे जाकर लालाजी के पास बैठ गया और कहा, ‘लाला साहब। इस वक्त मुसलमानों का नेता महबूब हिंदुओं के नेता से मिलने नहीं आया, बल्कि एक इनसान दूसरे इनसान से भीख मागने आया है।’

“इतना कहकर उसकी आँखें भर आई, आवाज नहीं निकली। कमरे में सन्नाटा छा गया। लाला सुंदरलाल ने हुक्के का कश जोर से खींचा और महबूब के चचा की तरफ मुखातिब होकर पूछा, ‘कयो अब्दुल्ला, क्या बात है?’

“चचा ने कहा, ‘महबूब का एक ही बेटा है, वही मौत के पंजे में फंसा है। तुम्हारे पास उसकी दवा है। तुम्हीं उसे बचा सकते हो।’

“सन्नाटा और भी गहरा हो आया। सभी ने भेद-भरी निगाहों से एक-दूसरे को

दखा। लाला सुंदरलाल ने फिर एक बार जोर का कश खींचा। घुए का अबार मुह से उठकर चारों तरफ फैल गया। एक क्षण के बाद बोले, 'आप लोग जाए। मैं अभी आता हूँ।'

“निगाहे फिर एक-दूसरे से मिलीं। वे लोग उठे, निहायत अदब से झुककर सलाम किया और चले गए। कमरे में अब सभी एक साथ बोल उठे, 'यह सब धोखा है। आप वहां नहीं जा सकते।'

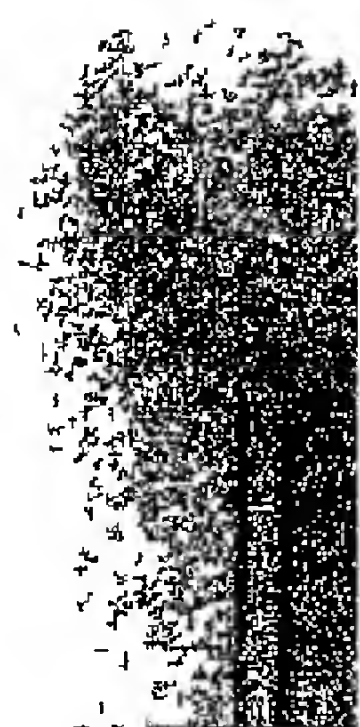
“लाला सुंदरलाल हँसे, 'हो सकता है, पर मैं जाऊंगा। मे वचन दे चुका हूँ। अब जो कुछ भी हो।' और उन्होंने पुकारकर कहा, 'अहमद, ड्योढ़ीवान से कहो, लालटेन लेकर मेरे साथ चले।'

“उसके पंद्रह मिनट बाद ही अहमद को आगे करके लाला सुंदरलाल तंग गलियों में बड़े चले जा रहे थे। महबूब का घर आया, दरवाजे पर चचा थे। लेकर अंदर बढ़े। एक ड्योढ़ी, दो ड्योढ़ी, तीन ड्योढ़ी एकाएक लाला सुंदरलाल कांप उठे—कहीं सचमुच धोखा तो नहीं है। पर तीसरी ड्योढ़ी पार करके जैसे ही उन्होंने सहन में कदम रखा तो कई आवाजे एक साथ आदाब बना लाई। उन्हें रमजान के पास ले जाया गया। लाला साहब बड़ी देर तक नब्ज थामे बैठे रहे। रोगी की परीक्षा की, पेट देखा, आंखें खोलीं और फिर बोले, 'महबूब! तुम्हारा बेटा बच जाएगा।' ”

कहते-कहते सहसा उस युवक की आंखें चमककर गीली हो गई। सुनने वालों के दिल धडक रहे थे। युवक ने एक लंबी राहत की सांस खींचकर कहा, “आगे कहना फिजूल है। वह लडका बच गया। उस रात जो बादल खून बरसाने उमड़े थे, पानी बरसाकर चले गए।

“दो दिन बाद लाला सुंदरलाल के मकान पर यह फैसला हुआ कि यह चबूतरा कस्बे के गरीब कूजडों और मालियों को सौंप दिया जाए जो इस पर बैठकर सब्जी बेचा करेंगे।”

गाड़ी तब पूरी तेजी से दौड़ रही थी। चबूतरा बहुत पीछे रह गया था, लेकिन सभी सुनने वालों की आंखें उस वक्त चबूतरे को अपने सामने देख रही थीं।



आज होली है?

डॉक्टर ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, “आप उत्तेजित न हो, नगेन बाबू। शहर में अब शांति है।”

“शांति है?” नगेन ने भी उसी शांत भाव से कहा, “लेकिन डॉक्टर साहब, क्या आप बता सकेंगे कि आज क्या है?”

“आज?” डॉक्टर जैसे मोच में पड़ गए।

“हां, आज वे लोग आने वाले हैं।”

“नगेन बाबू। आप तनिक सो लीजिए। उनके आने पर मैं आपको खबर दे दूंगा।”

“धन्यवाद। लेकिन आपने बताया नहीं कि आज क्या है?”

“आज हां याद आया, आज होली है।”

“और आज भाभी आएंगी।” कहकर नगेन हँस पड़ा खूब जोर से।

“नगेन बाबू। नगेन बाबू! क्या कहते हैं आप?”

“कुछ नहीं, डॉक्टर साब। सोचता हूँ पारसाल जब मैं होली पर घर गया था तो भाभी ने मुझे खूब उपदेश दिया था। मेरी भाभी बहुत पढ़ी-लिखी हैं। शास्त्र की बातें जानती हैं। धर्मशास्त्र की नहीं, मानसशास्त्र की।”

एक क्षण वह रुका। डॉक्टर की ओर अर्थ-भरी दृष्टि से देखा, फिर बोला, “डॉक्टर साब, आज भी सब लोग होली खेल रहे हैं पर एक अंतर के साथ। क्रांति का रंग लाल है और रक्त का रंग भी लाल है। इसलिए क्रांतिधर्मा हिंदू-मुसलमान एक-दूसरे के रक्त से होली खेलते हैं।”

और नगेन फिर हँस पड़ा। डॉक्टर ने धीरे से उसकी छाती को दबाकर कहा, “आप फिर उत्तेजित होने लगे, नगेन बाबू। थोड़ा सो लीजिए न।”

नगेन ने डॉक्टर की ओर देखकर कहा, “अच्छा डॉक्टर साब। लेकिन आप यही बेंठे रहिए।”

“मैं यही बेंठा हूँ।”

और धीरे-धीरे नगेन ने आखे मींच ली, पर नींद नहीं आई। आई पारसाल की धुंधली-सी याद मन के पटल पर वैसी ही धुंधली छाया फैलती हुई चली गई।

भाभी के तनिक पास आकर विद्या ने कहा, “जानती हो, भाभी, भइया क्यों आए हैं?”

भाभी बानी, अपन घर आन क लिए भी काइ कारण होता है, पगली।

विद्या अप्रतिभ नही हुई। हँसकर बोली, “तो भी एक विशेष कारण है, भाभी,”
ओर फिर नगेन की ओर मुड़कर मुसकरा पड़ी, “क्यों भइया? ठीक कहती हूँ न?”
नगेन ने इतना ही कहा, “खाक ठाँक कहती हो।”

“यही सही, भइया, भाभी के साथ होली खेलकर तुम ‘खाक’ ही पाने की
आशा लेकर आए हो न।”

और खूब जोर से हँसती खिलखिलाती विद्या वहाँ से भाग गई।

भाभी भी हँस पड़ी थी। झरने की कलकल ध्वनि-सी वह शांत हँसी

छाया गायब हो गई थी। नगेन चौंक पड़ा, “डॉक्टर साब, आप जानते हैं किस
शास्त्र ने हमें भाभी के साथ होली खेलने का अधिकार दिया है। नहीं, आप नहीं बता
सकते क्योंकि बहुत-सी बातों का विधान धर्मशास्त्रों में नहीं मिलता। परंपरा ही उनके
लिए एक मात्र विधि-विधान और नियम-शास्त्र हैं। यही बात भाभी-देवर के होली
खेलने के संबंध में है। न जाने कब किस देवर ने पहले-पहल किस भाभी के साथ
होली खेली होगी। यह एक शोध-प्रबंध का विषय हो सकता है ”

डॉक्टर ने कहा, “आप . . .”

“अच्छा, डॉक्टर साहब, आपकी भाभी हैं?”

“आप सो जाइए नगेन्द्र बाबू।”

डॉक्टर उसके माथे पर हाथ रख लेते हैं। वह फिर आख मीच लेता है। नींद नहीं
आती। विद्या आती है, “नगेन भइया, भाभी इन सब बातों को पसंद नहीं करतीं।”

“क्यों री?”

“वे कहती हैं, जो संस्कारों के गुलाम है, जो ऊँच-नीच और छूत-छात को
मानते हैं, उन्हें आमोद-प्रमोद का अधिकार नहीं होता।”

“भाभी कहती है यह?”

“हा भइया। तुमने देखा नहीं, वे कितनी सादी रहती हैं। देवी हैं वे, भइया। एक
दिन मुझसे दाल में नमक ज्यादा पड़ गया था। पर उसी शांत भाव से खाती रही। मैंने
कहा, ‘भाभी। नमक ज्यादा है।’ तो बोलीं, ‘पड़ जाता है, विद्या। अगर ज्यादा न पड़े
तो ठीक का पता कैसे लगे।’ और तुम्हें पता है कि उनके घर में तो खाना पकाने का
काम भी हरिजन स्त्री करती है .।”

नगेन ने फिर आँखें खोल दीं। डॉक्टर वही उसी तरह बैठे थे। उसने कहा
“अभी-अभी मुझे एक बात सूझी है, डॉक्टर साहब। अगर हिंदू-मुसलमान न लड़े तो
शांति के महत्त्व को हम कैसे पहचानेंगे। शांति ध्येय है तभी तो संघर्ष अनिवार्य है।”

इस बार डॉक्टर ने जवाब नहीं दिया। दो क्षण बाद नगेन को सचमुच लगा कि
उसे कुछ सो लेना चाहिए। सध्या को भाभी जरूर आएंगी। मुझे उत्तेजित देखकर वे
दुखी होंगी। उसने मिर की पट्टी पर हाथ फेरा। छाती पर रखे हुए दाहिने हाथ को

सहलाया और आंखें मीच ली। उसे लगा जैसे दर्द कम हो रहा है। पास के कमरे का जो घायल व्यक्ति है, वह भी 'हां' 'हू' नहीं करता। दूर नगर तक सन्नाटा ही सन्नाटा है

पर नींद है कि आती ही नहीं। भाभी पूछती हैं, "नगेन भइया। आप होली कयो मनाते हैं?"

नगेन झिझका, फिर बोला, "अनेक बातें है, भाभी।"

"बताओ न फिर।"

तब नगेन ने भाभी को अनेक कहानिया सुनाई—प्रह्लाद की, कृष्ण और राजा पृथु के राज में बसने वाली दूँडा राक्षसी की। फिर बोला—“भाभी। अपने ही देश में कयों, फ्रांस, इंग्लैंड, जापान, रूस सभी जगह तो होली खेली जाती है। बरमा में रंग नहीं डालते, विशुद्ध जल से खेलते हैं वे। कैसा उल्लास, कैसा आनंद, कैसी शालीनता स्त्रिया भी समान रूप से ”

“सच? बाप रे बाप। कितना विपुल है ज्ञान तुम्हारा?”

वह बोलता रहा, “भाभी। यह तो प्रकृति का त्यौहार है। वसंत ऋतु की फसले पककर तैयार होती हैं। प्रकृति हँसती है। विज्ञान हँसता है। उन्हे देखकर हम भी हँसते हैं। हँसना जीवन है न? दुनिया के झंझटों में पड़कर रात-दिन हम रोते रहते हैं। एक दिन खूब जी-भर हँस ले, ऐसा सोचकर हमारे दूरदर्शी पुरखो ने होली का त्यौहार चलाया होगा। कितनी अनोखी सूझ थी उनकी, भाभी।”

“हा, भइया! बड़ी अनोखी सूझ थी उनकी। साल-भर रोकर एक दिन हँस लो या एक दिन हँसकर साल-भर रो लो। कितना महंगा सौदा है यह!”

“भाभी .”

“नगेन भइया, हँसना और रोना कभी एक साथ नहीं हो सकते। और भइया, एक बात और भी है—जब एक रोता है तभी दूसरे को हँसी आती है।”

“नहीं, भाभी। आज तो सभी हँसते हैं ”

और नगेन फिर चौंक पड़ा, “सभी हँसते हैं? कयो, डॉक्टर साब, आप शहर गए थे? आपने देखा। सब हँस रहे थे। नहीं, नही, भाभी ठीक कहती हैं, सब नहीं हँस सकते। हां, आज सब रो जरूर रहे होंगे। पर वह भी मिलकर नहीं, अलग-अलग। कमबख्त एक साथ रो भी नहीं सकते ”

“आप फिर क्या-क्या कहने लगे, नगेन बाबू। नींद नहीं आती?”

“हा, डॉक्टर साब आज नींद नहीं आ रही है। भाभी आ रही हैं न। मैंने उनसे कहा था, होली प्रकृति का पर्व है, पर क्या आपने आज की प्रकृति को देखा है? मुरझाई हुई फसले, दूर पृथ्वी के उस छोर तक फैला हुआ पीलापन और उसके बीच में जीर्ण-शीर्ण कंकालों की चलती-फिरती भयातुर छायाएं.. ”

“नगेन बाबू। आप इन सब बातों की चिंता कयो करते हैं?”

नगेन बोला आप भरा चिंता क्या करते हैं डाक्टर? दूसरे के कष्ट देखकर जबरदस्ती मन में दर्द पैदा करना एक राग है क्या सभी डॉक्टर इस रोग के रोगी होते हैं?

“हां भइया!” धीमी व्यथित वाणी में बोले डॉक्टर और छत की कड़ियों को देखने लगे।

“आप बुरा मान गए, डॉक्टर साब। आज होली है। सभी कहते हैं, कहे-सुने का बुरा न मानो, होली है।”

डॉक्टर हँस पड़े। नगेन चुप होकर फिर सोने की चेष्टा करने लगा। पर होली की याद उसे न भूली। वह फिर भाभी के पास जा पहुंचा, “तुमने मेरी बात नहीं मानी, भाभी।”

“कब भइया? होली खेलने को कहते हो न! मना नहीं करती। बैठी हूँ, खूब खेलो।”

“सच, भाभी?”

और वह दौड़कर रंग ले आया—लाल, पीला, नीला, हरा। भाभी वही उसी तरह बैठी रहीं।

नगेन ने पिचकारी भरकर कहा, “भाभी, हो जाओ तैयार।”

उसी तरह, उसी जगह से भाभी ने कहा, “बैठी हूँ, नगेन।”

नगेन आगे बढ़ा, पर भाभी की ओर देखकर ठिठक गया, “भाभी, मैं नहीं खेलूंगा।”

“क्यों रे?”

“विद्या कहती थी, तुम यह सब पसंद नहीं करतीं।”

“मैं पसंद न करूँ, पर तुम तो पसंद करते हो। तुम्हारी पसंद मुझे मान्य क्यों न होगी।”

“नहीं भाभी। जिस बात को सब पसंद नहीं करते, उसमें जीवन नहीं होता।”

“क्या कहने लगे तुम, नगेन? दुनिया में तो रात-दिन ऐसा ही होता है। एक की पसंद जबरदस्ती दूसरे के सिर पर लाद दी जाती है। कोई भी प्रश्न नहीं उठाता।”

“नहीं भाभी, नहीं। मैं अपनी पसंद तुम पर नहीं लादूंगा। जानता हूँ, मेरा मन रखने को तुम यह सब कह रही हो, पर भाभी, हम संस्कारों के गुलाम हैं। हमें क्या रंग-रलियाँ मनाना सुहाता है।”

भाभी सहसा एक साथ हर्ष और विषाद में भर आई। वह अपने स्थान से उठीं और नगेन के सामने आकर बोली, “पगली विद्या के कहने में आकर पागल न हो जाओ। डालो रंग, मैं तनिक भी बुरा न मानूंगी, भइया।”

और कहते-कहते भाभी अद्भुत रूप से मुसकरा उठीं। नेत्रों में वात्सल्य की भावना सजग हो आई।

नगेन ने उन नेत्रों में झाका, चुपचाप रगवाली बाल्टी उठाई और भाभी के चरणों पर उंडेल दी। फिर शीघ्रता से उन्हें छूकर बोला, “यही है भाभी, मेरा हर्ष, मेरा आभोध-प्रमोद यही है।”

और अस्पताल के एक कमरे में लेटे हुए नगेन के अंतर में एक सिसकी फूट पड़ी।

“अरे, आप रोते हैं, नगेन बाबू।” डॉक्टर हड़बड़ाकर उसके ऊपर झुक आए “आप खतरे में बाहर हैं। आपके भाइया-भाभी आने ही वाले हैं।”

“डॉक्टर साब, यह सन्नाटा अच्छा नहीं लगता। क्यों डॉक्टर साब, ये हिंदू-मुसलमान क्या आदमी नहीं हैं?”

“मैं नहीं जानता, नगेन बाबू, वे क्या हैं? मैं तो यही जानता हूँ कि आपको अब सो जाना चाहिए। लीजिए, यह दवा पी लीजिए।”

डॉक्टर ने एक गिलासी में भरकर दवा दी और नगेन उसे चुपचाप पीकर लेट गया। बोला, “बाई ओर करवट ले सकता हूँ न?”

डॉक्टर ने बिना कुछ कहे उसे बाई करवट लिटा दिया और कुरसी सरकाकर उसके सिरहाने आ बैठे।

नगेन सो गया। डॉक्टर उठकर कमरे में बीचोबीच टहलने लगे। सिविल सर्जन ने कहा था-- आज नींद आ गई तो भय नहीं है।

और नींद आ गई थी। लेकिन आधा घंटे बाद ही पास के कमरे में कोई बड़े जोर से रो पड़ा। उद्विग्न हांकर डॉक्टर ने देखा--मृत व्यक्ति की लाश पर झुका हुआ एक आदमी फूट-फूट कर रो रहा है। और कपाउडर यंत्रवत् कह रहा है, “चुप रहिए आप। अस्पताल में रोया नहीं करते।”

रोने की आवाज से नगेन भी चौंक उठा, “क्या है, डॉक्टर?”

“कुछ नहीं, नगेन बाबू। सब ठीक है।”

“सब ठीक है। मैं आपको बताऊँ मुझे किसने मारा था?”

“मुझे मालूम है, पर आपको नींद आई, नगेन बाबू?”

“खूब आई, डॉक्टर। अच्छा कौन था वह?”

“हमीद। आपके सहपाठी का भाई।”

“वही डॉक्टर। मुझे पहचानते ही वह बोला, मारो काफिर को। मैं नहीं जानता, मैं किधर भागा? कहा गिरा? कब यहां लाया गया? कैसी बात है? हजारों वर्षों से साथ रहते-रहते हम एक-दूसरे के लिए अजनबी बन गए हैं। या मानो जितना जानते जाते हैं, उतनी ही खून की प्यास बढ़ती जाती है।”

डॉक्टर बोला, “बोलने से आपका सिर नहीं दुखता? आप जरा और सो ले।”

नगेन ने कहा, “हिंदुस्तान में रहने वालों के सिर नहीं होता, डॉक्टर, आप इतना भी नहीं जानते? देखो न, भाभी को हम मा के समकक्ष भी मानते हैं और आधी पत्नी

के रूप में भी। हमारे अंतर में जो शाश्वत हिंसक पशु छिपा बैठा है, उसे नष्ट करने की जरा भी चिंता नहीं करते, न चिंता करते हैं आर्थिक-सामाजिक विषमता को दूर करने की। बस, कभी हिंदू-मुसलमान-सिख कभी ब्राह्मण-अछूत न जाने कितने और कैसे-कैसे मुखौटे लगाकर उस हिंसक पशु को पुचकारते रहते हैं।

वह जैसे थक गया हो, एक क्षण रुका, पर डॉक्टर पूरे समय स्तब्ध उसे देखता ही रहा। वही फिर बोला, “अच्छा डॉक्टर, वे लोग कब आ रहे हैं?”

“अभी देर है।”

“देर है!” इतना कहकर नगेन ने फिर नेत्र बंद कर लिए। दूर तक सन्नाटा ही सन्नाटा था। कभी-कभी न जाने कहां से कोयल कूकने लगती थी। कभी-कभी कोई मरीज ‘हाय-हाय’ कर उठता था। डॉक्टर चुपचाप टहलते रहे। दवा का वक्त आने पर भी उन्होंने नगेन को नहीं जगाया।

रोज की तरह प्रकाश की किरणें एक-एक करके जाने लगीं। संध्या का अधा प्रकाश उनके स्थान पर दखल जमाने आ पहुँचा। खिड़की से झाँककर डॉक्टर ने देखा, नगर की ओर जाने वाली सड़क बिल्कुल सूनी है। बारी-बारी पुलिस के दो सिपाही पैर मिलाए उस ओर आते हैं और चले जाते हैं। बूट की आवाज सूने में गूँजती रहती है। सगीन उनके कंधों पर हैं। एक-दूसरे की ओर देखकर वे मुसकरा उठते हैं मानो उन्हें भय नहीं है। वे स्वयं भय हैं।

तभी सुना, कोई उन्हें पुकार रहा है, “डॉक्टर साहब, डॉक्टर साहब।”

“कौन है?” उन्होंने मुड़कर पूछा।

“क्या नगेन्द्र राय यहीं हैं?”

“हो सकते हैं, पर तुम कौन हो?”

“मेरा नाम वहीद है। नगेन बाबू की भाभीजी आई हैं।”

डॉक्टर ने उसे ध्यान से देखा और बोले, “उन्हें यही बुला लो।”

वह नगेन की भाभी थीं—नितांत निश्चित, वातावरण के प्रभाव से एकदम अछूती और ममता की मानो साकार प्रतिमा।

डॉक्टर ने पूछा, “आप नगेन बाबू की भाभी हैं?”

“जी हा। क्या उनकी हालत चिंताजनक है?”

“थी, पर अब नहीं है।”

“मैं उनके पास जा सकती हूँ?”

“जा सकती है, पर जरा ठहरकर। वे सो रहे हैं..आप अकेली हैं?”

“जी हां, उनके भइया बबई गए हुए हैं।”

“आप डरीं नहीं?”

“डर ही तो मुझे यहां खींच लाया है, डॉक्टर साहब। इस बड़े डर के सामने मार्ग के सब डर मैं भूल गई।”

“लेकिन यह वहीद कौन है?”

“आज इसने मेरी रक्षा की, डॉक्टर साहब।”

“क्या कहती है आप? आप पर हाथ उठाया इन लोगो ने?”

“जी हा, पर वे लोग मेरा खून नहीं चाहते थे।”

“तब ”

“आप नहीं जानते डॉक्टर, मैं कितनी सुंदर हूँ। फिर काफिर। क्या यह कम दोष है मेरा?”

डॉक्टर हतप्रभ उनकी ओर देखता रहा—क्या ऐसी औरतें भी इस देश में हैं? कैसे निर्भय-निडर सब सुना रही है।

तभी नगेन जागकर बोला, “डॉक्टर साब, वे लोग आ गए?”

डॉक्टर ने उसके पास आकर कहा, “अब जी कैसा है?”

“डॉक्टर साब, मैंने एक विचित्र सपना देखा है, सुनोगे. ? मैंने देखा—भाभी पर कई व्यक्तियों ने एक साथ हमला कर दिया। पर वे डरी नहीं। खड़ी रहीं—अचल पर्वत की तरह। तभी न जाने कहां से आकर आकाश के एक देवता ने उनकी रक्षा की लेकिन..”

“लेकिन क्या, नगेन?”

“डॉक्टर, वह देवता मुसलमान था। क्या यह भी संभव है?”

“संभव नहीं, नगेन, यह सच है।”

“सच है? तब. तब भाभी कहां हैं?”

उसी क्षण नगेन ने देखा कि भाभी सचमुच उसके सामने खड़ी है। वह फुसफुसाया, “भाभी..”

भाभी चुपचाप उसके पास आकर बैठ गई और उसका हाथ अपने हाथ में लेकर उसे सहलाती रहीं या शायद उमड़ते आंसुओं से लडती रही। कुछ थमकर बोली स्नेह पगे स्वर में, “जी कैसा है, नगेन?”

“अच्छा है, भाभी।”

“तुम्हें चोट अधिक लगी थी क्या, भइया?”

“वह बात बीत गई, लेकिन तुम्हें भी क्या उन्होंने मारा था?”

भाभी हँसी विद्रुप से, “मुझे कौन मार सकता है, अबला हूँ मैं।”

नगेन भी हँसा, “तब सबल ही मरने के लिए हैं, भाभी?”

“शायद।”

“लेकिन यह कौन है?” उसने वहीद को देख लिया था।

“यह वहीद है। यही मुझे यहां ले आया है।”

“तब तब मेरा सपना सच्चा था। उन्होंने तुम पर आक्रमण किया, भाभी। मैं सब देख रहा था। इसी ने तुम्हें बचाया है न?”

और वह वहीद से बोला, “वहीद!”

“जी।” वहीद ने चौंकर कहा। वह अपने किसी खयाल में मस्त वहीं बैठा

था। डॉक्टर मेज पर झुके हुए चार्ट लिख रहे थे। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि सकट टल चुका है।

नगेन ने कहा, “वहीद भाई, तुम मुसलमान हो?”

“हा, इसके साथ मैं और भी कुछ हूँ।”

“वह क्या?”

“मलेच्छ और अगर मैं कहूँ कि मैं सिर्फ मलेच्छ हूँ तो ज्यादा ठीक होगा।”

“शायद उसी तरह जैसे हम काफिर हैं!”

“बिलकुल ऐसे ही, भाई।”

“लेकिन तुमने इस काफिर की रक्षा कैसे की?”

वहीद गभीर हो आया, “मैं भी यह सोचता हूँ, लेकिन जब ये घिर गई तब मैंने देखा—मां बिलकुल भी नहीं डरी हैं। इनकी उस बेखौफी की वजह से ही मैं यह कसूर कर बैठा।”

नगेन बोला अचरज से, “कसूर कहते हो तुम इसे?”

“हां भइया, दीन के बदो के लिए यह कसूर है। मुसलमान होकर मैंने काफिर का साथ दिया, यह गुनाह नहीं है क्या?”

“गुनाह ” नगेन और भी विस्मय से भर आया।

भाभी ने कहा, “नगेन, एक के लिए जो पुण्य है, दूसरे के लिए वही पाप हो सकता है, इसमें विस्मय की बात क्या है। विषमता इस दुनिया की विशेषता है।”

“लेकिन भाभी,” नगेन बोला, “जो पाप है, जो बुरा है वह क्या सब के लिए एक नहीं है?”

“नहीं, वह एक नहीं है।” भाभी ने दृढ़ता से कहा, “और तुम जानते हो, ऐसा क्यों है? युग-युग के संचित संस्कारों ने हमारी चेतना को लील लिया है।”

डॉक्टर चुपचाप भाभी की ओर देख रहे थे। अब बोले, “नगेन बाबू, ये ठीक कहती हैं। मैं डॉक्टर हूँ, लेकिन अपने अंतर में मुसलमान की अपेक्षा हिंदू के लिए अधिक अधीर हो उठता हूँ। जानता हूँ, यह पाप है, फिर भी पुण्य मानकर इसे करता हूँ ”

नगेन ने कहा, “डॉक्टर साब, मैं कुछ नहीं समझ पा रहा। मुझे करवट लिवा दीजिए और आप जा सकते हैं। अब मुझे भय नहीं है।”

फिर वहीद की ओर मुड़कर वह बोला, “वहीद, तुमने जो कुछ किया उसके लिए हम लोग आजन्म तुम्हारी आभारी रहेंगे। अपनी फैलाई हुई इस विषमता की यदि एक भी कड़ी हम-तुम तोड़ सकें तो मनुष्य का कल्याण ही होगा।”

और उसने वहीद का हाथ अपने ओठों पर रखकर चूम लिया।

न जाने क्यों वहीद सिहर उठा। उद्विग्न होकर उसने कहा, “मैं अब भी नहीं जानता मैंने क्या किया। मेरे खुदा..।”

वह आगे न बोल सका। उसकी आंखें भीग आई थी।

ये बंधन

साड़ी का पैकेट लेकर अनीला जैसे ही जाने के लिए उठी, देखा— सामने की बेंच पर एक मुस्लिम युवती बैठी है। नकाब के भीतर से झाकती उसकी लंबी-लंबी आंखें कौतुहल से पूर्ण हैं और लाल-लाल ओठों पर मीठी मुसकराहट झलक रही है। उसने सोचा—मैंने इस सुंदर मुख को कहीं देखा है, पर कहां

छोटा भाई प्रदीप साथ आया था। बोला, “चलो न, जीजी। उधर क्या देख रही हो? कुछ है क्या?”

“है तो।” कहकर अनीला उधर ही बढ़ी। तब प्रदीप ने देखा—सामने जो मुस्लिम युवती बैठी है वह शीघ्रता से उठी और अनीला के पास आकर इस प्रकार खड़ी हो गई मानो उसमें समा जाना चाहती हों। अनीला ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया और दबाकर बोली, “सोच रही थी। इस सुंदर मुख को कहीं देखा है। तू तो सुरैया, इतना बदल गई है।”

“सच!”

“हां। क्या खाती है?”

सुरैया मद-मंद हँसती हुई बोली, “मैं क्या खाती? मुझे तो तुम जरा भी नहीं भूलों। अपनी बात कहो जो पुरानी सहेलियों को भी नहीं पहचानती।”

“सच सुरैया, नहीं पहचाना। तू अब वह कहां है? तेरी आंखों में न जाने क्या भरा है?”

सुरैया ने हाथ दबाकर कहा, “सच?”

“जान पड़ता है, शादी हो गई है।”

सुरैया ने गरदन हिला दी।

“तभी तो। और कहती है, मैं क्या खाऊंगी?”

सुरैया हँस पड़ी। उनके चारों तरफ भीड़ थी, युवक और युवतियां, स्त्री और पुरुष, वृद्ध और बालक, नाना जाति के। कुछ उन्हें देखते और आगे बढ़ जाते, वे व्यस्त थे। कुछ दृष्टि गड़ाकर देखने लगते। प्रदीप सोचने लगा, यह कौन है।

सुरैया ने पूछा, “तुम अभी तक पढ़ रही हो?”

“हां।”

“कौन-सी क्लास में?”

“एम.ए।”

“ओह, एम.ए ! क्या करोगी इतना पढ़कर?”

“पढ़कर कुछ करना होता है?”

“और क्या नहीं?”

“पता नहीं, सुरैया। पर हां, तू क्या अकेली है?”

“नहीं, वे हैं।”

“दूल्हा भाई।”

“हां, हां।”

“अरी बता तो कौन-से हैं?”

“वे, उधर—नीली धारी की कमीज और सफेद पैंट पहने हैं।”

“ओ!” अनीला ने उधर देखा और मुसकराई, बोली, “जोड़ी खूब मिली है। बधाई। कैसे है?”

“सब यही पूछ लोगी? तुम्हारे साथ कौन है?”

“छोटा भाई है। हां, सुरैया, मेरे साथ चलो।”

“अभी।”

“कुछ हर्ज है?”

“नहीं तो, पर बुलाओगी तो फिर किसी दिन आऊंगी। अब तो ”

“अब तो क्या?”

सुरैया का स्वर सहसा धीमा पड़ गया। बोली, “सदा वे ही अल्हड़ दिन नहीं रहते। अब तो चारों तरफ देखना होता है। इतनी देर हो गई, न जाने क्या कहते होंगे। जाऊ?”

अनीला को हँसी आ गई, “बड़ी डरपोक है तू, सुरैया। इतनी जल्दी।”

“बुलाना तब बताऊंगी।”

“घर तो बताती जा?”

“कूचा रहमान, नंबर 717।”

“नाम?”

सुरैया पास जाकर कान में फुसफुसाई, “मिस्टर अरशाद नासरी।”

सुरैया चली गई। अनीला मुड़ी। उसके मस्तिष्क में तब अनेक चित्र उठे और गिरे। लखनऊ में उन दोनों ने एक साथ मैट्रिक पास किया था। सुरैया वकील की लड़की थी—बहुत चंचल और दबंग। वैसे पढ़ने में अच्छी थी, परतु हिसाब में बहुत कमजोर थी। अनीला सदा अव्वल आती थी। इसीलिए सुरैया को बार-बार अनीला की शरण लेनी पड़ती थी। यद्यपि समय के अभाव में यह जान-पहचान बहुत गहरी तो नहीं हो सकती थी, परंतु उसमें प्यार का अभाव भी नहीं था। आज अकस्मात् इस प्रकार मिल जाने पर वही प्यार गहरे मिठास से भर उठा। सामीप्य में अलगाव, और दूरी में अपनापन होता है न। इसीलिए अगले दिन जब अनीला ने अपनी महाराजिन को तांगे के

साथ भेंजा तो सुरैया मना नहीं कर सकी। सच तो यह है कि वह बुलावे की राह देख रही थी। इसके लिए उसे अपने मालिक से भी रूठना पड़ा था।

“कौन थी वह?” अरशाद ने घर लौटकर पूछा, “बड़ी घुट-घुटकर बात हो रही थी।”

सुरैया मुसकराई, “पुरानी सहेली है। लखनऊ में साथ पढ़ती थी।”

“किसकी लडकी है?”

“बाबू रामकिशोर की, वही जो मशहूर वकील हैं। कांग्रेस में काम करते हैं। आजकल एम ए में पढ़ रही है।”

“सच।”

“जी हां। जेल हो आई है।” सुरैया बोली, “हमारी तरह थोड़े ही है जो हमेशा किले में बंद रहती है।”

मुसकराकर अरशाद ने कहा, “आजादी बड़ी खतरनाक होती है, बेगम।”

“क्या मतलब?”

“मतलब भी बताना पड़ेगा।” अरशाद ने उसी तरह कहा, “जो लडकिया इस तरह आजाद धूमती है, उनका दिल बश में नहीं रहता।”

सुरैया ने शरारत से अरशाद की ओर देखकर, कहा, “मर्दों को हर तरफ दिल का सौदा नजर आता है। मगर उसके लिए भी क्या परदे और बेपरदे का फर्क है? वह तो परदे के अंदर भी उतना ही मचलता है, जितना बाहर, बल्कि परदे में उसे ज्यादा आजादी रहती है।”

चोट खाकर अरशाद तिलमिला उठा। झेंप उतारने के लिए उसने कहा, “तुम्हें तो बहुत बातें करनी आ गई हैं, बेगम। आखिर तुम्हारे वालिद भी तो वकील थे।”

“जी हा, थे।”

“और सुना, तुम्हें एक हिंदू मास्टर पढ़ाने आते थे।”

सुरैया हँस पड़ी, “हां, आते थे, बेचारे। बीच में परदा होता था। उसी के पार बैठकर वह सवाल समझाते थे और मैं स्लेट पर हल करके बाहर रख देती थी।”

अरशाद हँसा, बोला, “परदे में कोई सूरख नहीं था?”

“था।”

“उसमें से झांकती थीं?”

“हां।”

“अच्छे लगते थे?”

“हटो भी।” सुरैया ने विदूष से कहा, “क्या बातें सूझती हैं तुम्हें। जो बात छिपाई जाती है उसको देखने के लिए सभी का मन करता है। मुझे तो वे बातें सोचकर अब भी बड़ी हँसी आती है। कैसे-कैसे कानून बनाए हैं आप लोगों ने, बाप रे। कभी-कभी तो ऐसा मन करता है इस बुरके को फाड़कर फेंक दूं।”

आप कह दो बस

मैं कह दूँ तुम क्या बुजदिल हो?

सुरैया ने अरशाद की आखों में अपनी आखें डाल दी और धीरे से कहा
“बुजदिल तो नहीं हूँ पर मेरी ताकत तो आप ही है, मेरे मालिक।”

अरशाद को यह अदा बड़ी प्यारी लगी। उसने सुरैया को छाती से लगाकर चूम लिया। फिर कहा, “एक दिन सब रुकावटे दूर होंगी पर तब जब मेरी ताकत तुम बनोगी।”

सुरैया ने कहा, “वह तो मैं अब भी हूँ।”

“कहने-भर को, वरना ”

सुरैया चोट खाकर तड़प उठी। परंतु दूसरे ही क्षण उसने संभलकर कहा, “हा, अनीला मुझे बुला रही थी। चली जाऊँ?”

“मैं क्या जानूँ?”

“और कौन जाने?”

“सुरैया, बात यह है .” और आगे अपने भाव व्यक्त करने के लिए शब्द ढूँढने में असमर्थ अरशाद ने सुरैया को देखा। आंखें मिलीं। सुरैया का मन और भी पस्त हो गया, बोली, “आप नहीं चाहते तो नहीं जाऊँगी।”

“सुरैया, बात यह है .”

“बात मैं जानती हूँ। मुसलमान औरत घर की चारदीवारी से बाहर जाने के लिए नहीं होती, यही न?” कहकर वह धम-धम करती हुई चौक में चली गई। तभी भिश्ती ने पुकारा, “पानी ला रहा हूँ, जी, परदा कर लेना।”

सुरैया फिर कमरे में लौट गई। अरशाद ने चुपचाप जाकर किवाड़ खोले। भिश्ती ने सलाम झुकाकर पानी भरा और चला गया। सुरैया बाहर जाकर घर का काम देखने लगी। आजकल नौकर के अभाव में नवाबों के लिए भी शान रखना मुश्किल हो रहा है। उनकी तो बात ही क्या थी। किसी तरह काम चल रहा था। रोटी पकाना, बरतन मलना, झाड़ना-बुहारना, सभी कुछ सुरैया अपने-आप करती थी। अब भी चुपचाप बावर्चीखाने में पहुँची और शाम के खाने की तैयारी करने लगी, पर मन उसका भारी था। आंखें आंसुओं से पूर्ण थीं। कोहनी से उन्हें पोंछकर उसने सालन उठाया। तभी अरशाद ने पास आकर कहा, “बेगम।”

“... ”

“सुरैया, रूठ गई?”

“... ”

“सुरैया, मेरा यह मतलब नहीं था। चली जाना अच्छा।”

“मैं नहीं जाऊँगी।”

“सुरैया .”

“मैं नहीं जाऊंगी, मैंने कह दिया।”

पर यही सुरैया जब अनीला की महाराजिन ने आकर कहा, ‘आपको अनीला बीबी ने बुलाया है,’ तो खुशी से नाच उठी। बोली, “मैं तो राह देख रही थी। बैठो, अभी चलती हूँ।”

अनीला दरवाजे पर खड़ी हुई थी। सुरैया को देखकर हँसती-हँसती आगे बढ़ी, “तुम आ गई, सुरैया!” उसने कहा, “मैं तो समझी थी तुम्हारे ‘वे’ नहीं आने देंगे।”

सुरैया ने सबसे पहले नकाब उठाकर देखा—अनीला अकेली है। तो बुरका उतारकर एक कुर्सी पर फेंक दिया, हँसकर बोली, “उफ। अब जान-में-जान आई है। या खुदा, कितनी गरमी है!”

अनीला ने पंखे को उसकी ओर घुमा दिया, कहा, “बड़ी गरमी लगती है।”

“गरमी क्या है जैसे फिर नहीं पड़ेगी।”

अनीला बोली, “यह तो हमेशा ही पड़ेगी पर हम हमेशा नहीं रहेंगे। शरबत पियोगी?”

“जो पिला दो।”

अनीला ने पुकारकर कहा, “महाराजिन, शरबत ले आना जरा।”

सुरैया को हवा लगी तो उठकर कमरे को देखने लगी। सामने किताबों की अलमारी थी, बोली, “इतनी किताबें हैं। बड़ा पढ़ती हो, अनीला?”

“तुम्हारा जी करता है?”

“हमारा क्या जी?” सुरैया ने दुःख से कहा, “न जाने इतना भी कैसे पढ़ गए। अब्बा की हिम्मत थी, नहीं तो अम्मी हमेशा कहा करती थी, ‘हम क्या हिंदू हैं जो अपनी लड़कियों को पढ़ा-लिखाकर आजाद कर दें। हमारी लड़कियाँ तो बुरके में बंद रहती हैं।’ और सच भी है, अनीला। क्या हुआ पढ़कर? वही बावर्चीखाना, वही झाड़ू-बुहारी। कभी अखबार तक नहीं मिलता पढ़ने को।”

महाराजिन शरबत ले आई। एक गिलास सुरैया को देकर अनीला बोली, “बात तुम ठीक कहती हो, पर तुम्हारी क्यों, हर कहीं यही हालत है।”

“नहीं अनीला!” सुरैया ने एक सांस में आधा गिलास खाली करने के बाद कहा, “तुम लोग आजाद हो। देखो न पढ़े जा रही हो। मैं तो पढ़ लूँ भला!”

“पर सुरैया, सभी हिंदू ऐसे नहीं हैं।”

“सभी तो कहीं भी एक-से नहीं होते।” सुरैया ने जवाब दिया, “पर फिर भी तुम्हें याद है न शीला थी हमारे साथ। कितनी गरीब थी, पर पढ़े जा रही थी। फर्स्ट आती थी।”

अनीला हँसी, “शीला गुप्ता?”

“हा।”

“वह अब तीन बच्चों की मां है।”

“सच? मियां क्या करते हैं?”

“जी.एच.क्यू. में है।”

“बस?”

“हां, सुरैया।”

“कैसी होशियार लड़की थी। मास्टरनियां हाथों पर रखती थी। हर मजमून में अव्वल। तो भई, हमें अफसोस नहीं। किसी तरह पास हुए थे। भई, तुम जमीला को जानती होगी न?”

“हां, हां, क्यों।”

“बेचारी का इंतकाल हो गया।”

“कैसे?”

“मरा बच्चा हुआ था।”

अनीला का दिल धक-धक कर उठा। बोली, “बड़ी गरीब लड़की थी।”

“हां, अनीला।” सुरैया ने दर्द-भरी वाणी में कहा, “गरीबी ही उसे खा गई। आजकल की महंगाई तुम जानती ही हो। गरीब को ठीक-ठीक दवा भी नहीं मिली। मरने से पहले पागल हो गई थी।”

“ओह, परमात्मा! सच?”

“हां, अनीला। बेचारी तीन बच्चे छोड़ गई है। वे भी मर जाते तो अच्छा था। कौन उन्हें संभालेगा, बशीर मियां कह रहे थे—खुदा की मरजी है। अब भी जो ठीक होगा, करेगा। पर अनीला, मुझे तो मालूम होता है, खुदा कुछ नहीं करता।”

“बेशक, सुरैया।” अनीला बोली, “खुदा कुछ नहीं करता। करता तो आदमी है। अपने ऐब छिपाने के लिए वह खुदा की आड़ लिया करता है। लेकिन, सुरैया, तुमने नहीं बताया .”

“क्या?”

“तुम्हारी गोद खाली है।”

सुरैया की आंखें सहसा गीली हो गईं। गहरी सास खींचकर बोली, “अनीला, एक लड़की हुई थी, पर तीन महीने की होकर चल बसी। बड़ी प्यारी थी।”

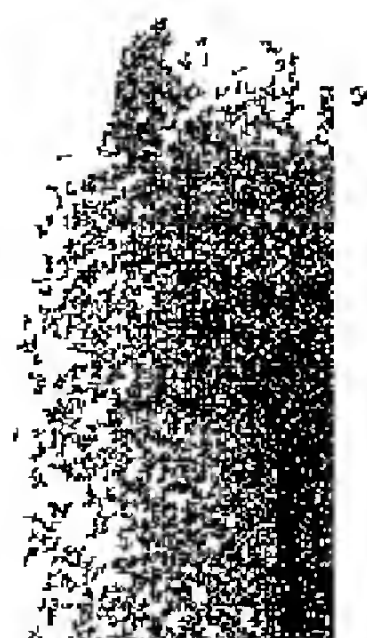
“औलाद प्यारी ही होती है।” अनीला ने सहानुभूति से भरकर कहा, “पर दुखी क्यों होती हो? और भी .”

बात काटकर सुरैया बोली, “अच्छा अनीला, तुम्हारा मन नहीं करता?”

“काहे को?”

“जैसे जानती नहीं!”

अनीला मुसकरा पड़ी और सुरैया के ऊपर झुकती-झुकती बोली, “जानती क्यों नहीं! और मैं बताऊं, मन करता भी है।”



“फिर शादी क्यों नहीं करती?”

“मन करता है तो क्या शादी कर लेनी चाहिए? मन जिस काम को कहे, वह क्या सभी किया जाता है?”

सुरैया को यह दार्शनिकता अच्छी नहीं लगी, बोली, “अनीला, औरत तो आखिर शादी करती ही है।”

“न करे तो?”

“यह कैसे हो सकता है? नहीं करेंगी तो इधर-उधर .”

इसी समय बाहर शोर मचा। बच्चों की किलकारियां और बूटों की आवाज पास आने लगी। सहसा सुरैया कूदकर उठी। शीघ्रता से उसने बुरका उठाया और नकाब डाल ली। पलक मारते ही यह सब हा गया। अनीला ने चकित होकर देखा—प्रदीप अंदर चला गया है। समझकर वह खिलखिलाकर हँसी, बोली, “सुरैया, यह तो प्रदीप था, मेरा छोटा भइया।”

सुरैया ने अब नकाब पलटा। यद्यपि अस्तव्यस्त हो रही थी, पर मुसकरा पड़ी। शरारत से बोली, “हम लोगों के सिर्फ मां-जाया भाई होता है।”

“पर,” अनीला ने कहा, “तुम्हारी तो शादी हो चुकी है।”

“हां, यह तो ठीक है, लेकिन आदत पड़ी हुई है।”

“भई, ऐसी भी क्या आदत?”

“सच अनीला। बहुत बार जी करता है, इस बुरके को फाड़कर फेंक दूं, पर हाथ उठते-उठते रुक जाते हैं।”

तब तक बच्चे अंदर आ गए थे। दस वर्ष की लंबी, सुंदर प्रमीला और पांच वर्ष का गोलमटोल कुलदीप। सुरैया को देखकर दोनों ठिठक गए। अनीला ने कहा, “नमस्ते करो, जीजी है।”

प्रमीला ने हाथ जोड़कर लजाते हुए कहा, “नमस्ते।”

सुरैया ने उसे प्यार से थपथपाया। इधर कुलदीप महाशय अनीला के पास जाकर बोले, “जीजी। ये कौन हैं?”

“जीजी।”

“कौन-सी? कानपुर वाली?”

“ना, ना। ये तो यहीं रहती है।”

“अब तक क्यों नहीं आई थीं?”

“घर का पता नहीं था।”

“अब कैसे लगा?”

सुरैया को अटपटी बोली में उसके प्रश्न बड़े प्यारे लगे। बोली, “हमारे पास आओ।”

“नहीं आते।”

अनीला ने तीव्रता से कहा, “ना कुलदीप, ऐसे नहीं कहते। बड़ी जीजी है।”
कुलदीप मुह बनाकर बोला, “बड़ी जीजी कैसे है, हमारे लिए चीजी तो लाई नहीं।”

सुनकर अनीला और सुरैया खिलखिलाकर हँसीं। फिर अनीला ने कहा, “अच्छा, अच्छा महाशय! जाओ देखो, खाना बना कि नहीं। तुम भी जाओ प्रमीला। अम्मा तो आ गई न?”

“हा, रसोई में है।”

तभी सुरैया चौककर बोली, “अरे, तुम्हारी अम्मा जी से तो मिली नहीं।”

अनीला ने कहा, “वे रसोई में चली गई हैं। खाना उन्हें अपने हाथ से बनाना अच्छा लगता है। मैं बुलाती हूँ।”

“नहीं, मैं ही चलती हूँ। मुझे तभी जाना चाहिए था।”

“अरे, बैठो भी।”

“ऊहू। बैठकर क्या करूंगी?” सुरैया बोली, “तुम्हारी रसोई देखूंगी। वे कहते थे, हिंदुआनियां सब्जी बड़ी अच्छी पकाती हैं। कई बार वे हिंदू दोस्तों के घर जाकर खाते हैं... देखूंगी, तुम लोग आखिर क्या करती हो?”

अनीला हँस पड़ी पर दूसरे ही क्षण सहसा जैसे मन मुरझा गया। हँसी रुक गई। उसने कहा..

पर सुनने को सुरैया वहां नहीं थी। वह शीघ्रता से कमरे से बाहर चली गई। देखा, आगन में सामने जो पक्की रसोई है उसी में अनीला की मा बैठी हैं। वह कढ़ाई में पुरियां तल रही हैं। पास दूसरी अगीठी पर सब्जी पक रही है। जिसकी सोधी-सोधी सुगंध चारों ओर फैली है। सब कहीं स्वच्छता, सब कहीं सामान समुचित रूप से रखा है। क्षण-भर में सुरैया ने सब कुछ देख डाला और शीघ्रता से रसोई में अम्माजी के पास पहुंचकर कहा, “अम्माजी, सलाम।”

जैसे भूकंप हुआ। अम्माजी हठात् कांप उठीं। दृष्टि उठाकर सुरैया को देखा। हाथ से कौचा झनझनाता हुआ धरती पर गिर पड़ा। वह लडखड़ाती हुई उठीं। कढ़ाई में ठेस लगी, वह उलट गई, तपता हुआ घी चारों ओर बिखर गया और देखते-देखते वे चीखकर वहीं गिर पड़ीं।

सुरैया बराबर रोए चली जा रही थी। उसकी हिचकियां बंद ही नहीं होती थीं। दुखी और त्रस्त अनीला ने बहुत समझाया। उसकी आंखों पर अपना मुह रखकर उसे प्यार से थपथपाती हुई बोली, “मेरी अच्छी, सुरैया। मेरी प्यारी बहन, चुप कर..”

सुबकते-सुबकते सुरैया बोली, “अनीला, गलती मेरी थी। मैं रसोई में क्यों गई? मेरी वजह से अम्माजी..”

“चुप-चुप, सुरैया।” अनीला ने उसके गले में बांह डाल दी, “अम्माजी को

कुछ नहीं हुआ है। जरा पैर जल गया है, बस। सुरैया! सुरैया! तुझे मेरी कसम। तू यह बात भूल जा। मैं कल तेरे पास आऊंगी। कल ही सबके साथ हम मिलकर खाना बनाएंगे और मैं तुझे तरह-तरह से सब्जी बनाना बताऊंगी। ले बस, चुप हो जा। तू मेरी बहन है न?"

सुरैया ने किसी तरह अपने को शांत किया। उसकी आंखें लाल हो रही थीं। मुख मुरझा गया था और दिल दुःख से फटा पड़ता था। यह किसी भी तरह वहां से भाग जाना चाहती थी। अनीला भी कम दुखी नहीं थी, पर ऊपर से वह शांत थी। उसने सुरैया को छाती में भर लिया और हँसकर बोली, "जो भी हो, तुम्हें शांत होना होगा, मेरी बहन। मेरी लाज तुम्हारे हाथों में है।"

सुरैया ने धीरे से कहा, "मैं ठीक हूँ।"

"तो हँसो।"

"."

"हँसो, मेरी प्यारी बहन।"

सुरैया हँस पड़ी। उसकी वह सजल मुसकराहट अनीला ने हँसकर उसे चूम लिया।

तभी बाहर जूतों की आवाज हुई। अनीला के पिता अस्पताल से लौट आए थे। उन्होंने मुसकराते हुए कहा, "अनीला बेटी, तुम्हारी मां ठीक हैं। रात तक लौट आएंगी। कहलाया है, सुरैया को तब तक न जाने देना।"

मेरा बेटा

सिविल अस्पताल का नया सर्जन डॉक्टर हसन जैसे ही कमरे में दाखिल हुआ, उसने किवाड बंद कर लिए। ठंडी हवा का झोका, जो साथ-साथ अंदर घुस आया था, क्षण-भर के लिए उसके पिता को कपाता हुआ गायब हो गया। डॉक्टर ने एक गहरी सांस खींची और हाथ के दस्ताने उतारते हुए कहा, “अब्बा! बड़ी खतरनाक हालत है!”

अब्बा जो पलंग पर लेटे थे, ‘हू’ करके रह गए। डाक्टर ने चुपचाप ओवरकोट उतारा और खूटी पर टांग दिया, फिर अंगीठी के पास जा खड़ा हुआ। बाहर सनसन करती हुई हवा चल रही थी और उस ठंड को, जिसके थपेड़े खाते हुए वह अभी लौटा था, याद करके उसे अब भी कंपकंपी आ जाती थी। एकाएक अब्बा बोल उठे, “अब तक कितने आदमी मर चुके होंगे?”

डॉक्टर ने जवाब दिया, “अस्पताल में कुल तीस लाशें आई हैं।”

“और जखमी?”

“सौ हो सकते हैं।”

“मुसलमान ज्यादा होंगे?”

डॉक्टर क्षण-भर रुका, फिर हाथों को मलता हुआ बोला, “कुछ नहीं कहा जा सकता।”

“फिर भी?”

वह झिझका जैसे कुछ सोचना चाहता हो। अब्बा तब तक उसके मुह की तरफ देखते रहे। उसने हाथों को आग के आगे किया और कहा, “हो सकता है, हिंदू ज्यादा हों।”

फिर कई क्षण कोई नहीं बोला। सिर्फ हवा दरवाजे पर थपेड़े मारती रही। अब्बा के मुख पर अनेक भाव आए और गए, उनके तने हुए चेहरे की नसें और भी तन गईं। एकाएक बैठे-बैठे उन्होंने कहा, “तो कोई उम्मीद नहीं?”

“किस बात की?” हसन ने चौंककर पूछा।

“फैसले की।”

“फैसला?” डॉक्टर जबरदस्ती मुसकराया और फिर जोश में बोला, “अब्बा! हजार साल इस तरह लड़ते रहने पर भी फैसला नहीं हो सकता। असली बात यह है कि वे फैसला करना ही नहीं चाहते, वे लड़ना चाहते हैं और लड़ते रहेंगे, इसीलिए वे एक-दूसरे की बात समझने से इनकार करते हैं।”

“इनकार करते हैं?”

“हा अब्बा, मैं तो इसे इनकार मानता हूँ। समझना चाहे तो झगडा ही क्या?”
अब्बा ने एक बार अपने बेटे को देखा, फिर कहा, “शायद तुम ठीक कहते हो।”

“शायद नहीं अब्बा, मैं बिलकुल ठीक कहता हूँ।”

तभी किसी ने दरवाजा खटखटाया। डॉक्टर चौका।

पूछा, “कौन हैं?”

जवाब आया, “जी, अस्पताल में डॉक्टर शर्मा ने आपको बुलाया है।”

“क्यों?”

“एक नया केस आया है, साब।”

“तो?”

“साब, उन्होंने कहा है, जख्मी की हालत खतरनाक है, आपका आना जरूरी है।”

अब्बा ने सुनकर गुस्से से कहा, “क्या वाहियात बात है, अभी आए हो। खाना न पीना। मरने दो उसको।”

डॉक्टर बोला, “मरना तो है ही, अब्बा, आज मौत के फरिश्ते ने हम सबको अपने परो के साये में समेट लिया है।”

और फिर किवाड खोले, ठंडी हवा तेजी से अंदर घुसी। उसने कांपते हुए कहा “खाना खा सकता हू?”

आने वाला अस्पताल का जमादार था, सिकुड़ते हुए जवाब दिया, “साब, वह तो जल्दी बुलाते हैं।”

डॉक्टर ने लंबी सांस खींची, कहा, “अच्छ तो कह दो, अभी आता हूँ।” और उसने जल्दी से किवाड बंद कर लिए। सीधे अंगीठी के पास आया और कहा, “खून जमा देने वाली सर्दी पड रही है, और वे लोग लडे जा रहे हैं, बहशी, हैवान, दोजखी, कुत्ते।” साथ ही साथ दस्ताने पहनता रहा, फिर ओवरकोट उठाया और चलते-चलते कहा, “मैं कहता हूँ, अब्बा, वे हैवान हैं। वे फैसला नहीं कर सकते।”

अब्बा अगरचे क्रोध में भरे हुए थे पर न जाने क्या हुआ कि हसन की बात सुनकर हँस पड़े। बोले, “हैवान बड़ी जल्दी फैसला करता है, बेटे।”

वह कुछ जवाब देता कि इस बार अदर के दरवाजे पर आहट हुई। वह मुड़ा, देखा— सामने उसकी बीवी खड़ी है। उसने गरम शाल लपेट रखी है और उसके सुंदर मुख पर क्रोध-भरी मुसकराहट है। पास आने पर वह कुछ नाराजी से बोली, “अभी आए और चल दिए, क्या मुसीबत है?”

“खुदा जाने, क्या होने वाला है, बेगम।”

“खाना नहीं खाओगे?”

कसे खाऊ बुलावा आ गया है

बगम के हाथ में कुछ बिस्कुट थे उन्हें डॉक्टर के आवरकोट की जेब में डालते हुए कहा चाय तो पी लेत

डॉक्टर मुसकराया, बाला, तुम बहुत अच्छी हो, बेगम।

और फिर उसके मुंह पर आई हुई एक लट को पीछे करते हुए वह जल्दी से मुड़ा और कहा, “अब नहीं रुक सकता, बेगम। देर हो गई तो शायद पछताना पड़ेगा।”

बेगम ने कुछ जवाब नहीं दिया, उसका सुंदर मुखड़ा परेशानी से उदास हो गया था। दुखी मन से उसने डॉक्टर को जाते देखा और देखती ही रह गई। डॉक्टर दरवाजा खोलकर जल्दी-जल्दी कदम रखता हुआ बाहर निकल गया। बूटों की तेज आवाज के साथ सनसनाती हुई हवा एक बार तेजी से उठी और फिर धीमी पड़ने लगी। चटकनी लगाकर अब्बा फिर पलंग पर आ बैठे। तभी पास के कमरे से एक हलकी लड़खड़ाती हुई आवाज आई। डॉक्टर हसन के बाबा ने पूछा, “अनवर, हसन आया था.. अब फिर कहाँ गया?”

“अस्पताल।”

“क्यों?”

“क्यों क्या। कोई और जखमी आ गया है। वे काफिर न जीते हैं, न जीने देते हैं।”

बात इतनी तल्खी से कही गई कि बाबा कुछ जवाब नहीं दे सके। नौकर पास बैठा था। उससे कहा, “जा, पूछ तो उसने कुछ खाया कि नहीं और कुछ न हो तो बिस्कुट वगैरा लेकर वहीं दे आ, जा..”

उधर डॉक्टर हसन जैसे ही अस्पताल में दाखिल हुआ, डॉक्टर शर्मा ने बेचैनी से कहा, “हसन। तुम आ गए, जल्दी करो, वह कमरा नंबर 6 में है। और आपरेशन का सामान तैयार है।”

हसन ने जरा शिकायत-भरे ढंग से कहा, “ऐसी क्या बात है? खाना तक नहीं खाने दिया।”

“क्या करूं, हसन, हम लोगो का काम ही ऐसा है।”

“केस क्या बहुत सीरियस है?”

“हां, केस बहुत सीरियस है हसन, उसके बदन का कोई हिस्सा ऐसा नहीं है, जिस पर चोट न आई हो। चोट भी ऐसी है कि देखकर दिल कांप उठता है।”

“होश में है?”

“आह, होश? मुझे अचरज है कि वह जिंदा कैसे है?”

“क्या उसका जिंदा रहना जरूरी है?” हसन ने उसी तरह कहा, “उसके मर जाने पर क्या दुनिया मिट जाएगी?”

शर्मा बोला, “मैं जानता हूँ, पर जब तक वह मर नहीं जाता, तब तक उसे जिंदा रखने का बोझ हम पर आ पड़ा है, क्या करें?”

वे चल रहे थे और बातें भी करते जाते थे। वे घायलों के वार्ड में दाखिल हो चुके थे और दर्द-भरी चीख-पुकार सुनाई पड़ने लगी थी। दरवाजा खोलते-खोलते हसन ने पूछा, “यह है कौन?”

“एक बूढ़ा हिंदू है।”

“यही का रहने वाला है?”

“नहीं, परदेशी है। जब मे जो कागज मिले हैं उनसे पता लगता है कि वह कानपुर का रहने वाला है और उसका नाम रामप्रसाद है।”

हसन ने धीरे से दोहराया, “रामप्रसाद, कानपुर, बस?”

“बस।”

उन लोगों ने कपड़े बदले और फिर नर्मों और कपाउडरों से घिरे हुए उस जखमी के ऊपर झुक गए, जो बीसों जखम खाकर आपरेशन की मेज पर बेहोश पड़ा हुआ था। उसकी सांस बहुत आहिस्ता-आहिस्ता चल रही थी और अधखुली आंखें दिल में डर पैदा करती थीं।

आपरेशन खत्म करके जब वे बाहर निकले तो पूरे पांच घंटे बीत चुके थे। वे बेहद थके हुए थे और उनके तमाम बदन में दर्द हो रहा था। वे उस हवा में इतने डूब चुके थे कि दूर तक साथ-साथ चलते रहने पर भी वे एक-दूसरे से नहीं बोले। शाम हो चुकी थी, पर हवा की सनसनाहट उसी तरह गूंज रही थी। उसके थपेड़े खाकर वे कभी कोट का कालर ठीक करते, कभी कदम तेज करके गरमी पैदा करना चाहते। उसी वक़्त एकाएक डॉक्टर शर्मा ने धीरे से कहा, जैसे नींद में बड़बड़ाते हों, “कैसा अजीब केस है!”

डॉक्टर हसन ने भी धीरे से कहा, “पर मुझे खुशी है, हम उसे बचा सकेंगे।”

“शायद।”

“नहीं, शर्मा,” हसन ने पूरे भरोसे से कहा, “मुझे यकीन है, वह बच जाएगा।”

डॉक्टर शर्मा ने हसन की ओर देखा, फिर मुसकराकर कहा, “तुम्हें यकीन है, क्योंकि तुमने उसके लिए परिश्रम किया है।”

“वह केस ही ऐसा था, उसे देखकर मुझे लगा कि इसे बचाना चाहिए।”

“क्योंकि उसके बचने में तुम्हारी विद्या का इम्तहान है।”

डॉक्टर हसन ने एकाएक डॉक्टर शर्मा को देखा, उसे जान पड़ा कि वह ठीक कह रहा है, केस जितना खतरनाक था, उसको बचाने का खयाल भी उतना ही ज्यादा था।

यह जानकर डॉक्टर हसन को गहरा संतोष हुआ और उसने खुश होकर कहा, “मेहनत तो तुमने भी की है, शर्मा!”

पर तुम्हारी तरह नहीं

हसन ने इस बात का जवाब नहीं दिया, पहले की तरह चुपचाप चलता रहा। उसका घर सामने दिखाई पड़ रहा था। उसी को देखकर वह बोला, “मैं समझता हूँ, घर जाने से पहले तुम एक प्याली चाय पीना पसंद करोगे।”

शर्मा ने मुसकराकर कहा, “जरूर करूँगा। सारा बदन टूट रहा है।”

हसन हँसा, बोला, “और इस बात की क्या गारंटी है कि हमें अभी फिर उसी कमरे में नहीं लौटना पड़ेगा?”

“हा, कौन कह सकता है?”

“लेकिन शर्मा, उस आदमी का पूरा पता मालूम होना चाहिए। देखने में किसी बड़े घर का जान पड़ता है।”

शर्मा ने उसी तरह कहा, “मैंने पुलिस को पूरी रिपोर्ट दे दी है। वह पता लगा लेगी और न भी लगे तो क्या है, न जाने कौन-कौन मरता है।”

“वह नहीं मरेगा, शर्मा, उस पर आज मैंने बाजी लगाई है।”

शर्मा मुसकराया, “तब और भी जरूरत नहीं है।”

घर आ गया, किवाड़ खोलते हुए डॉक्टर हसन ने कहा, “बैठो शर्मा, मैं चाय के लिए कहता हूँ।”

और फिर अब्बा की ओर मुड़कर कहा, “वाकई वह बड़ा खतरनाक केस था, लेकिन उम्मीद है कि वह बच जाएगा। शर्मा और मैं अब तक उसी पर लगे थे।”

शर्मा ने हसन के अब्बा को आदाब अर्ज किया। जवाब देकर अब्बा बोले, “कौन है?”

“कोई बड़ा आदमी है।”

“एक बूढ़ा हिंदू है। अच्छे घर का जान पड़ता है।”

“यहीं का रहने वाला है?”

शर्मा ने कहा, “जी नहीं, परदेशी है। जो कागजात उसकी जेब में मिले हैं, उनसे पता चलता है कि वह कानपुर का रहने वाला है और उसका नाम रामप्रसाद है।”

अब्बा एकाएक चौंके, “क्या...क्या बताया...रामप्रसाद, कानपुर?”

“जी।”

“और कुछ?”

“जी नहीं।”

“उसके साथ कोई और नहीं है?”

“जी नहीं।”

हसन लौट आया था और अब्बा की बेचैनी को ध्यान से देख रहा था, बोला, “क्या आप उसे जानते हैं?”

अब्बा का चेहरा तन चला था और उनकी आंखों में गुस्से की हलकी लकीरें

उभर आई थी। उन्होंने अनजाने ही तल्खी से कहा, “वह मरा नहीं है?”

शर्मा ने जवाब दिया, “मरने में कुछ कसर तो नहीं थी, परंतु डॉक्टर हसन ने अपनी होशियारी से उसे बचा लिया है।”

अब्बा ने अब हसन की तरफ गौर से देखा और देखते रहे। हसन को उनका यह व्यवहार बहुत अजीब-सा मालूम हुआ। उसने अब्बा के पास जाकर पूछा, “अब्बा! क्या आप उन्हें जानते हैं?”

जैसे बिना सुने उन्होंने कहा, “रामप्रसाद कानपुर उसके मुंह पर दाईं तरफ एक मस्सा है?”

“है।”

“उसका रंग गोरा है और उसकी शक्ल .”

“उसकी शक्ल?” हसन ने एकाएक अब्बा की तरफ देखा। जैसे बिजली कौंधी हो, आपरेशन करते समय उसके मन में यह विचार आया था कि इसकी शक्ल तो अब्बा से मिलती है। अब्बा उसी तेजी से बोले, “हां, मेरी तरफ देखो, उसकी शक्ल कुछ-कुछ मुझसे मिलती है?”

हसन कांपा, “अब्बा .”

अब्बा अपनी सुध-बुध खो रहे थे। उनके चेहरे की झुर्रियों में नफरत उभरती आ रही थी। उन्होंने जलती हुई आखों से हसन की तरफ देखा और कहा, “हां, मैं कानपुर के रामप्रसाद को जानता हूँ और मैं उससे नफरत करता हूँ .”

हसन जैसे पागल हो चला था, “आप उससे नफरत करते हैं, क्यों...”

“हां, मैं उससे नफरत करता हूँ और उसके मरने का मुझे जरा भी रंज नहीं है।”

वे बुरी तरह कांपने लगे थे। उनकी आंखों में क्रोध और उत्तेजना के कारण पानी भर आया था। पर हसन को जैसे कुछ याद आ रहा था। कुछ, वह जो प्यारा होकर भी कड़ुवा था, जो उसके अब्बा की इस बेचैनी का कारण था। ‘अब्बा की बेचैनी।’ वह आहिस्ता से अपने-आपसे बोला, ‘नहीं, यह केवल अब्बा की बेचैनी नहीं है, यह तो. .’

ठीक उसी समय अंदर के कमरे के किवाड भडभड़ाकर खुल गए। सबकी नजरे उस ओर उठीं। देखा—नौकर के कंधे पर हाथ रखे डॉक्टर हसन के बूढ़े दादा अंदर चले आए हैं। उनके बाल सफेद हो चुके थे और कमर झुक गई थी। उनके हाथ-पैर लड़खड़ाते थे और आंखें देखने से इनकार कर चुकी थीं। उन्हें देखकर हसन के अब्बा घबरा उठे और दोनों हाथों से थामकर उन्हें पलंग पर ले आए। बोले, “आज आप इतनी सदी में क्यों उठे?”

दादा ने कुछ नहीं सुना और लड़खड़ाते हुए कहा, “अनवर, तुमने अभी किसका नाम लिया था? कौन आया है?”

“कोई नहीं, अब्बा।” हसन के अब्बा अनवर ने शांति से जवाब दिया, “यहां तो हसन के साथी शर्मा माहब बैठे हैं।”

“नहीं अनवर, मैंने अच्छी तरह सुना है, तुम उसका नाम ले रहे थे।”

डॉक्टर शर्मा एक अजीब भूलभुलेया में फंस गए थे। वे कभी हसन की ओर देखते, कभी अब्बा को और कभी बाबा को। पर उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। हसन चुपचाप जेब में हाथ डाले बाबा पर नजर गड़ाए हुए था। उसके मुख पर अब थकान नहीं थी, बल्कि एक गहरे दर्द ने उसे परेशान कर दिया था। इसके खिलाफ, उसके अब्बा की नफरत गहरी होती जा रही थी और बाहर हवा उसी तेजी से सर पटक रही थी। अनवर ने अब्बा को आराम से सहेजकर पलंग पर लिटा दिया और फिर धीरे-धीरे चारों ओर से कंबल ढकने लगे।

दादा उसी तरह बोले, “अनवर, तू बोलता क्यों नहीं?”

“अब्बा”

“हां, वह कहां है? तू उसका नाम क्यों ले रहा था?”

अनवर की आवाज कुछ लड़खड़ाई, उन्होंने कहा, “अब्बा, वह यहां नहीं आया।”

“तो...?”

“अस्पताल में है।”

दादा की आवाज एकाएक और भी दर्दनाक हो उठी, “क्या..क्या कहा . अस्पताल में? .क्यों..?”

जब हसन से नहीं रहा गया, तो आगे बढ़कर उसने कहा, “हां दादा, कानपुर वाले रामप्रसाद अस्पताल में पड़े हैं, जख्मी हो गए थे, लेकिन अब बेहतर हैं।”

सुनकर दादा ने कंबल को दूर फेंक दिया और लड़खड़ाते हुए बोले, “रामप्रसाद जख्मी हो गया . कैसे हुआ किसने किया. ?”

“शहर में जो दंगा हो रहा है, उसी में..”

“मुसलमानों ने उसे मारा।” दादा ने अब सब कुछ समझकर कहा, और क्षण-भर के लिए ऐसे हो गए जैसे प्राणों ने साथ छोड़ दिया हो। फिर उनकी आखों से आंसू बहने लगे। आवाज भर्रा गई। बोले, “हसन, उसे मुसलमानों ने मार डाला और तुमने मुझे बताया भी नहीं, तुमने..”

“दादा, मैं उनको जानता नहीं था।”

“पर तूने कहा, वह अभी जिंदा है?”

“हां, दादा।”

“अस्पताल में?”

“हां, दादा।”

“तो हसन, मेरे बच्चे।” उन्होंने उठने की कोशिश करते हुए कहा, “तू मुझे

उसके पास ले चल, मैं एक बार उसे देखूंगा, वह मेरा बेटा है, मेरा बड़ा बेटा कहते-कहते दादा फूट-फूटकर रोने लगे। उनसे उठा नहीं गया। कटे हुए पेड़ की तरह वही लुढ़क गए।

अनवर ने उन्हें देखा और पुकार उठे, “हसन! जल्दी करो अब्बा को गश आ गया है।”

हसन न कांपा, न घबराया। आगे बढ़कर उसने अलमारी में से दवा निकाली और उसे प्याले में डालते-डालते बोला, “शर्मा, क्या तुम इंजेक्शन तैयार नहीं कर दोगे?”

“जरूर कर दूंगा।” शर्मा जो अब समझ गया था, बोला और उठकर स्ट्रिट से सुई साफ करने लगा। हसन ने दवा बाबा के गले में डाली। फिर पुकारा “दादा!”

कोई आवाज नहीं।

“दादा आ. ”

अनवर ने पुकारा, “अब्बा. !”

धीरे-धीरे उनको होश आया। होठ फड़फड़ाए। बोले, “कहां है वह? मेरा बेटा.. मेरा बेटा ..!”

“अब्बा. !”

“मैं उसके पास जाऊंगा।”

हसन ने कान के पास मुह ले जाकर धीरे से कहा, “अभी चलते हैं, दादा। आप जरा अपने को संभालिए तो ”

उन्होंने उसी तरह कांपते हुए कहा, “मैं होश में हूं, मेरे बच्चे। मैं उसके पास जाऊंगा, आखिर वह मेरा बेटा है, कोई गैर नहीं। मैं मुसलमान हूं और वह हिंदू। वह मुझसे, मेरे बच्चों से नफरत करता है, पर पर वह भी मेरा बच्चा है। मैं उससे नफरत नहीं करता। हसन .हसन !”

“हां, दादा।”

“हसन। मैं उससे पूछूंगा, मैं मुसलमान हो गया तो क्या हुआ, हमारा बाप-बेटे का नाता तो नहीं टूट सकता। आखिर उसकी रंगी में अब भी मेरा खून बहता है, इतना ही जितना अनवर की रंगी में बहता है, शायद ज्यादा..”

उनकी आवाज फिर धीमी पड़ रही थी। वह रो-रो उठते थे। दोनों डॉक्टर उनके ऊपर झुके हुए थे और अनवर ने उनकी नाडी सभाल रखी थी।

बाहर अधेरा बढ़ा आ रहा था और हवा शांत पड़ रही थी। अंदर बेगम आंखों में आसू भरे, दुखी दिल से चाय लिए बैठी थी और वह चाय न जाने कब की ठंडी होकर काली पड़ गई थी।

